Political Science Syllabus
BA-II Year (Semester –IV)
Core Course – DSC- 1-D
Code: POLS 202
Introduction to International Relations

Course Code	Code –POLS 401	
Credits-6	L (L=Lecture)	T(T=Tutorial)
	L-5	T-1
Course Type	Core	
Lecture to be delivered	(I hr. each)	

Semester End Examination System:

Maximum Marks Allotted	Minimum Pass Marks	Time Allowed
70	32	3.00 Hrs

Continuous comprehensive Assessment (CCA) Pattern:

Minor Test (Marks)	Class Test/Tutorials/ Assignments /QUIZ/ SEMINAR(Marks)	Attendance	Total Marks
15	10	5	30

UNIT	TOPIC
I	Approaches to study the International Relations (a) Classical Realism (Hans Morgenthau), (B) World Systems Approach (Immanuel Wallerstein) and Dependency Model (Andre Gunder Frank) .
II	Cold War : Meaning and Nature. Causes of its End.
III	Post Cold- War Era and Emerging Centers of Power (European Union, China, Russia and Japan) .
IV	Indian Foreign Policy (a) Basic Determinants (Historical, Geo-Political, Economic, Domestic and Strategic) (b) Policy of Non-alignment

Essential Readings:

1. William, P., Goldstein, D. M. and Shafritz, J. M. (eds.) (1999) Classic Readings of International Relations. Belmont: Wadsworth Publishing Co, pp. 30-58; 92-126.
2. Art, R. J. and Jervis, R. (eds.) (1999) International Political Enduring: Concepts and Contemporary Issues.5th Edition. New York: Longman, pp. 7-14; 29-49; 119-126.
3. Jackson, R. and Sorenson, G. (2008) Introduction to International Relations: Theories and Approaches. New York: Oxford University Press, pp. 59-96.
4. Goldstein, J. and Pevehouse, J.C. (2009) International Relations. New Delhi: Pearson, pp. 81-111.
5. Tickner, J. A. (2001) Gendering World Politics: Issues and Approaches in the Post-Cold War Era. Columbia University Press.
6. Baylis, J. and Smith, S. (eds.) (2011) The Globalization of World Politics: An Introduction to International Relations. Fifth Edition. Oxford: Oxford University Press, pp. 90-123; 142-159; 262-277.
7. Wenger, A. and Zimmermann, D. (eds.) (2003) International Relations: From the Cold World War to the Globalized World. London: Lynne Rienner, pp. 54-89.
8. Appadorai and Rajan, M. S. (eds.) (1985) India's Foreign Policy and Relations. New Delhi: South Asian Publishers.
9. Mewmillians, W.C. and Piotrowski, H. (2001) The World Since 1945: A History of International Relations.Fifth edition. London: Lynne Rienner Publishers.
10. Smith, M., Little, R. and Shackleton, M. (eds.) (1981) Perspectives on World Politics. London: Croom Helm.
11. Indian Foreign Service Institute. (1997, 1998) India's Foreign Policy: An Agenda for the 21st Century Vols. 1 & 2, New Delhi: Konark Publishers, pp. 3-41; 102-119.
12. Ganguly, S. (ed.) (2009) India's Foreign Policy: Retrospect and Prospect. New Delhi: Oxford University Press.
13. Vanaik, A. (1995) India in a Changing World: Problems, Limits and Successes of Its Foreign Policy. New Delhi: Orient Longman. pp. 19-41; 63-67; 102-114; 118-124; 132-134.
14. Basu, Rumki (ed)(2012) International Politics: Concepts theories and Issues, New Delhi, Sage Publications India Pvt Ltd.

*****

प्रथम भाग

अध्याय-1

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र

संरचना

1.0 भूमिका

1.1 अधिगम उद्देश्य

1.2 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अर्थ

1.3 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का नामकरण

1.4 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अंतर

1.5 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का स्वरूप एवं प्रकृति

1.6 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का विषय क्षेत्र

1.7 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का महत्व

1.8 स्वयं जांच प्रश्न

1.9 सारांश

1.10 शब्दावली

1.11 स्वय जांच प्रश्नों के उत्तर

1.12 ग्रन्थ सूची

1.13 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

1.0 भूमिका

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति सम्बन्ध का अर्थ किसी समय में यूरोपीय राष्ट्रों की आपसी राजनीति से लगाया जाता था। उस समय लगभग सारे विश्व में यूरोपीय राष्ट्रों की राजनीति ही प्रभावी थी और एशिया तथा अफ्रीका में अपने आर्थिक एवं औपनिवेशक विस्तार के लिए यूरोप के राज्य युद्धों तथा कूटनीतिक दाव-पेंचों में सलंग्न थे। उनकी शक्ति संपन्नता, औद्योगिक प्रगति, विकसित तकनीकी और प्रसारवादी महत्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण राजनीति की तुलना में विश्व के अन्य देशों की राजनीति बहुत कुछ शांत और स्थानीय प्रकृति की थी, लेकिन कालांतर में इतिहास की धारा पलटी और प्रथम विश्व युद्व के बाद अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में व्यापक बदलाव आया। दो महायुद्वों के बीच अधिकांश विश्व के एक बड़े भाग में आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और तकनीकी क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों ने देशों की आंतरिक व बाह्य राजनीति को मौलिक रूप से प्रभावित किया। द्वितीय विश्व युद्व के बाद अणु शक्ति ने राष्ट्रों की राजनीति और सामरिक नीति को एक नया मोड़ दे दिया। साम्राज्यवाद के विरूद्व जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई। एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीपों का प्रभुत्व एवं प्रभाव तेजी से बढ़ा जिसकी उपेक्षा करना किसी भी महाशक्ति के लिए दुष्कर कार्य हो सकता था। इन सब घटनाओं तथा क्रिया-प्रतिक्रियाओं ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक/सम्बन्ध स्वरूप को बदल दिया तथा उसके आकार और आयामों को सच्चे अर्थो में अंतर्राष्ट्रीय बना दिया। इस अध्याय में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अर्थ, स्वरूप, नामकरण, क्षेत्र एवं विषय-वस्तु के साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का क्या महत्व है का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की उपयोगिता आज भी निर्विवाद है।

1.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी मुख्य रूप से :-

- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति/सम्बन्ध के अर्थ की समझ सकेंगे।
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के स्वरूप को जान सकेंगे।
- अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अन्तर कर सकेंगे।
- अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के महत्व को जान सकेंगे।

1.2 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अर्थ एवं परिभाषा

निम्नलिखित परिभाषओं से इस विषय को समझा जा सकता है-

एच.जी. मार्गेन्थो के अनुसार ''राष्ट्रों के मध्य शांति की समस्या तथा राजनीतिक सम्बन्धों का विश्लेषण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत आता है।''

चार्ल्स श्लीचर के अनुसार ''यह है राज्यों के आपसी सम्बन्ध- इसके अंतर्गत अंतर्राज्यीय राजनीतिक एवं अराजनीतिक सम्बन्ध आते हैं।''

नार्मन पैडलफोर्ड तथा जार्ज लिंकन इसे इस प्रकार परिभाषित करते हैं, ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति सम्बन्धों के बदलते संदर्भ में राज्यों की नीतियों की अन्त:क्रिया है।''

पामर एव पर्किन्स इसे 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' कहना बेहतर समझते हैं और इस विषय को राज्य प्रणाली से संबंधित मानकर परिभाषित करते हैं।

हैरोल्ड स्प्राऊट तथा मारग्रेट स्प्राऊट अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, ''स्वतंत्र राजनीतिक समुदायों की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और सम्बन्धों के उन स्वरूपों का नाम ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति है जिसमें कुछ सीमा तक विरोध, टकराव अथवा हित विरोध सदैव विद्यमान रहता है।''

हार्टमैन ने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के गतिशील स्वरूप को, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को परिभाषित करने का आधार माना है। उनका विचार है कि ''अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से अभिप्राय उन प्रक्रियाओं के अध्ययन से है जिनके द्वारा राज्य अपने राष्ट्रीय हितों का सामजस्य अन्य राज्यों के राष्ट्रीय हितों के साथ स्थापित करते हैं।''

बर्टन के अनुसार ''अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में सामान्य बातों के अतिरिक्त वे सभी घटनाएं और परिस्थितियां भी शामिल हैं जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों पर पड़ता है। यह शांतिपूर्ण संचारों की व्यवस्था है जहां राज्य सोच- समझ कर तथा स्व-हित में विवादों को टालना चाहते हैं क्योंकि विवाद उन्हें बड़े महंगे पड़ते हैं।''

अंतर्राष्ट्रीय शांतिपूर्ण सम्बन्धों की धारणा के विरोध में **थॉम्पसन** अपने भिन्न विचार व्यक्त करते हैं उनके विचार में ''राष्ट्रों के बीच छिड़ी प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ उनके पारस्परिक सम्बन्धों को सुधारने या बिगाड़ने वाली परिस्थितियों और संस्थाओं के अध्ययन को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कहते हैं।''

राबर्ट स्ट्रोज हूप तथा **स्टीफन पोसोनी** के अनुसार ''नागरिकों के कार्यों तथा राजनीतिक रूप में महत्वपूर्ण निजी संस्थाओं के निर्णयों को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र कहा जा सकता है।''

उपर्युक्त सभी परिभाषाएं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अर्थ, स्वरूप तथा क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों के मध्य विद्यमान अनेक विभिन्नताओं को स्पष्टत: दिखलाती है। कुछ विद्वानों के विचारों में यह एक ऐसी व्यवस्था है जिससे राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक प्रतिक्रियाओं में शक्ति अथवा शक्ति-प्रयोग की धमकी निहित रहती है। वे इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कहना अधिक उचित समझते हैं जबकि अन्य विद्वान इसे राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के रूप में परिभाषित करते है और इसे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहते हैं। इन विद्वानों में से कुछ विद्वान विरोध एवं शक्ति के तत्वों पर जोर देते हैं और अन्य कई दूसरे राष्ट्रों के आपसी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को महत्व देते हैं।

1.3 नामकरण की समस्या

हमारे अध्ययन का विषय राष्ट्रों के आपसी संबधों तथा पारस्परिक क्रियाओं से संबंधित है। अलग-अलग विद्वानों ने इसे अलग-अलग रूपों में पहचाना है तथा उसी के अनुसार इसका नामकरण किया है। कुछ इसे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहते हैं जबकि विद्वानों का एक वर्ग इसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति कहने को अधिमान देता है। इसके लिए कुछ अन्य प्रचलित नाम इस प्रकार है:- विश्व राजनीति, विश्व मामले, अंतर्राष्ट्रीय मामले, विदेश राजनीति, विदेश नीति तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था इत्यादि हम इन विभिन्न नामों के पीछे तर्क को समझने का यत्न करेंगे।

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति

अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एवं अंतर्राष्ट्रीय राजनीति ये दोनों नाम प्राय: पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं और बहुत से लेखक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और राजनीति के मध्य कोई सीमा रेखा नहीं खींचना चाहते। हंस जे. मार्गेन्थो तथा कैनिथ थॉम्पसन जैसे उच्च कोटि के विद्वान भी इन दोनों नामों को बदल-बदल कर प्रयोग कर लेते हैं। उनके विचार में ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अटूट अंग है।'' कई अन्य विद्वान जैसे पामर, पर्किन्स, वर्टन, श्वारजनबर्गर, श्लीचर, थीयोडोर ए. कोलोम्बिस तथा जेम्स एच.वोल्फ इसे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहना अधिक अच्छा मानते हैं।

(क) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध :- वे विद्वान जो इसे अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का नाम देना चाहते हैं, अपने पक्ष में कई कारण देते हैं। 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' एक ऐसी व्यापक नामावली है जो राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के स्वरूप तथा इसके विशाल क्षेत्र पर प्रकाश डालती है। इसमें लोगों के, उनके गुटों के तथा विश्व समाज के सभी प्रकार के सम्बन्धों का लेखा-जोखा रहता है। राष्ट्रों के सम्बन्ध राजनीतिक तथा अराजनीतिक दोनों प्रकार के रहते हैं। इसमें सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, कानूनी, सरकारी तथा गैर-सरकारी सभी प्रकार के संबंध आ जाते है। सभी तरह का अंतर्राष्ट्रीय कार्य संपादन, वित्तीय, व्यावसायिक, अंतर्राष्ट्रीय खेलें, तकनीकी सहयोग, सांस्कृतिक तथा औपचारिक भ्रमण सभी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ही एक भाग है। कोलोम्बिस तथा वोल्फ का विचार है, ''युद्व, अंतर्राष्ट्रीय कान्फ्रेंस, कूटनीति प्रवास, ओलंपिक खेलें, जासूसी, व्यापार, विदेशी सहायता, अप्रवास, पर्यटन, जहाजों का अगुवाई करना, विश्व में महामारी, हिंसक क्रांतियां यह सारा कुछ अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निरंतर बढ़ते हुए क्षेत्र में आ जाते हैं।'' क्योंकि राष्ट्रों के आपसी संबंध अर्थात राष्ट्रीय सीमा के इस पार और उस पार के सभी मानवीय व्यवहारों को प्रभावित करने वाले सभी सम्बन्ध इसके अध्ययन केंद्र बिंदु हैं। इसलिए दूसरे शब्दों की अपेक्षा 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्द अधिक तर्क संगत समझा जाता है।

(ख) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति:- कई विद्वान 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' नाम का विरोध करते हैं और वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द के प्रयोग की वकालत करते है। उनके विचार में, 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्द बहुत सामान्य एवं स्वच्छन्द शब्द है जो राष्ट्रों के मध्य अंतर्राष्ट्रीय पारस्परिक क्रियाओं के वास्तविक रूप को स्पष्ट करने में असफल रहता है। इसके अतिरिक्त यह नाम लोगों, उनके गुटों तथा विश्व समाज के आपसी निजी तथा सरकारी सभी तरह के सम्बन्धों को शामिल करके इसे अनुचित रूप में विस्तृत कर देता है। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नाम इसलिए भी असंगत लगता है क्योंकि इसमें सहयोग तथा संपर्कों को अंतर्राष्ट्रीय अन्तक्रियाओं का प्रमाण चिन्ह माना जाता है, जिसका अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विशेषता है विरोध, शक्ति के लिए संघर्ष, युद्व एवं विवाद, इसलिए अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नाम का प्रयोग राष्ट्रों के मध्य राजनीति के अध्ययन के लिए न केवल अनुचित है बल्कि भ्रामक भी है।

लैग तथा मॉरिसन 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' नाम को उचित मानते हैं जिसके अंतर्गत राष्ट्रों की अंतक्रियाओं की प्रक्रिया, जिसके परिणाम स्वरूप विरोध तथा संघर्ष होते हैं और जिनका अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाधान होता है का ठीक अध्ययन हो पाता है, क्योंकि राष्ट्रों के मध्य सभी तरह के सम्बन्धों का 'राजनीतिक क्षेत्र' हमारे अध्ययन का केंद्र बिंदु

है। इसलिए हमें 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' नाम पर ही दृढ़ रहना चाहिए। हमारे विषय का मुख्य क्षेत्र राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष है जो राष्ट्रों के बीच क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं की व्यवस्था को जन्म देते है। यह मुख्यत: उन अंतर्राज्यीय सम्बन्धों से संबंधित है जिनमें उद्देश्यों और हितों के बीच संघर्ष रहता है। यही दृष्टिकोण सम्बन्धों के स्वरूप को राजनीतिक रूप देता है और अधिक स्पष्टता के लिए हम कह सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द अंतर्राष्ट्रीय संबधों के उस मुख्य दृष्टिकोण के अध्ययन के निर्णय को विशिष्टता प्रदान करता है जिसमें विरोध-सुलझाव तथा शक्ति के लिए संघर्ष का अध्ययन किया जाता है।

(ग) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अथवा दोनों:- उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध शब्द से अधिक सुष्पष्ट एवं उचित है। चाहे कुछ भी हो, यह स्वीकार करना होगा कि वास्तविक प्रयोग में दोनों शब्द एक जैसे लोकप्रिय हैं। बहुत से विद्वान राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के विशेष गुणों को विशिष्टता प्रदान करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द का प्रयोग अधिक उचित समझते हैं। जबकि अन्य कुछ विद्वान इस विषय के क्षेत्र के विशाल रूप को बनाए रखने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध शब्द का प्रयोग करते हैं। स्प्राऊट तथा स्प्राऊट ने लिखा है कि "एक की व्यापकता से दूसरे को पृथक करने के लिए ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है।" व्यापक तथा सामान्य बोध के लिए हम अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध शब्द का प्रयोग कर सकते हैं परंतु राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों-प्रतिक्रियाओं के केंद्रीय बिंदु को प्रकट करने के लिए हमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द का प्रयोग करना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि राष्ट्रों के बीच राजनीति, राष्ट्रों के विभिन्न प्रकार के आपसी सम्बन्धों का ही परिणाम है। इसलिए हम केवल एक ही शब्द को विशिष्टता प्रदान करने में बिल्कुल कठोर नहीं हो सकते।

(घ) अंतर्राष्ट्रीय मामले, विश्व मामले तथा विदेशी मामले : ये सभी नाम हमारे अध्ययन विषय के लिए कम उपयुक्त हैं क्योंकि ये सभी शब्द बड़े सामान्य है। विशेषत: अंतर्राष्ट्रीय मामले, विश्व मामले, विदेशी मामले आदि शब्द अंतर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाओं के स्वरूप को सुस्पष्ट नहीं कर सकते। इन शब्दों में बड़े सामान्य भाव का बोध होता है जिसकी परिधि में विश्व की सभी समस्याएं आ जाती है। हमें संसार को 'राज्यों का समुदाय' मानना चाहए। हमें उस भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक वातावरण को समझना चाहिए जिसमें राज्य क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए हमें इसे समझना आवश्यक है। इसलिए इस अध्ययन के इस विषय को सुस्पष्टता देने के लिए इन सब में से किसी एक नाम को स्वीकार नहीं कर सकते और न ही हम इसे अपने अध्ययन में मुख्य आधार मान सकते हैं। विश्व में क्या हो रहा है अर्थात विदेशी मामलों का ज्ञान हमें अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने में सहायक हो सकता है परंतु इन्हें समुचित रूप में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। इन शब्दों का प्रयोग हमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति समझने के मार्ग से भटका सकता है।

(ङ) विश्व राजनीति: कुछ विद्वान इस विषय के लिए 'विश्व राजनीति' शब्द का प्रयोग उचित समझते हैं। ये लेखक इसका राजनीति में भेद करके इसकी उपयुक्तता की वकालत करते हैं। उनका यह तर्क है कि राजनीति का अर्थ है 'राज्य-राजनीति' अर्थात राज्य में विद्यमान शक्ति के लिए संघर्ष तथा 'विश्व राजनीति' शब्द राज्यों के मध्य शक्ति तथा राजनीति के संघर्ष जतलाने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं विशेषत: संयुक्त राष्ट्र संघ तथा इसकी शाखाओं की बड़ी संख्या एक विश्व समाज के अस्तित्व को सिद्व करती है जो तेजी से विश्व राज्य की ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिए ऐसे लेखक यह मानते हैं कि 'विश्व राजनीति' नाम विश्व स्तर पर राजनीति की व्याख्या करने के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है।

लेकिन आलोचक इस तर्क को अस्वीकार करते हैं उनके विचार में इस शब्द का प्रयोग विश्व राज्य की पूर्व-कल्पना पर आधारित है। आज एक बड़ी संख्या में अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, राज्य के भीतर काम करने वाली संस्थाओं के सामने विद्यमान हैं किंतु इन संस्थाओं को चाहे कुछ भी विश्व-राज्य की संस्थाएं नहीं माना जा सकता। भविष्य में

ये संस्थाएं ऐसी बन सकती हैं किंतु आज इनके पास स्वतंत्र रूप से क्रिया तथा प्रतिक्रिया करने की शक्ति का अभाव है। उनकी कार्य प्रणाली राज्यों की नीतियों तथा हितों से अनुबंधित है तथा ये समस्त विश्व को एक मानकर उसके हितों के लिए कार्य नहीं करतीं। इसलिए प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों के मध्य विद्यमान राजनीति की व्याख्या करने के लिए हम 'विश्व राजनीति' शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। भविष्य में विश्व-राज्य की उत्पति ही केवल इस शब्द को उपयुक्त सिद्व कर सकती है। इस समय इस शब्द को 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' अथवा 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' के शब्द के पक्ष में छोड़ देना ही हितकर है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि वर्तमान में 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' नाम राज्यों के मध्य सम्बन्धों की व्याख्या के लिए उपयुक्त नाम हैं। इन दोनों में से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द विद्वानों द्वारा अधिक प्रयोग में लाया जाता है। यह नाम राज्यों के आपसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्वरूप का विश्लेषण करने तथा 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' के सिद्वांत निर्माण के उनके प्रयत्नों के वास्तविक रूप को प्रकट करने में सक्षम है। बहुत से विद्वान इन दोनों नामों में सामंजस्य स्थापित करते हुए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शब्द का प्रयोग विभिन्न तत्वों तथा धारणाओं के अध्ययन के लिए तथा 'अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' शब्द का प्रयोग राष्ट्रों के मध्य सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्धों के वास्तविक रूप के अध्ययन के लिए करने की सिफारिश करते हैं।

1.4 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' में अन्तर:-

इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्राय: एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में कर लिया जाता है और अनेक विद्वान इनके मध्य कोई विभाजन रेखा भी नहीं खींचते हैं। **हंस मार्गेन्थो एवं कैनिथ थाम्पसन** जैसे विद्वान इन दोनों नामों को अदल-बदल कर प्रयोग करते हैं। यहां तक कि **पामर एवं पर्किन्स, बर्टर, श्लाइचर तथा थियोडोर तथा थियोडोर ए. कोलम्बस** जैसे विद्वान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के नाम से पुकारना उचित समझते हैं। फिर भी, इन दोनों में व्यापक अंतर मौजूद है जिसका वर्णन हम निम्नलिखित आधार पर कर सकते हैं:-

1. क्षेत्र के आधार पर अन्तर :- अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध की तुलना में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र बहुत सीमित है क्योंकि इसमें राष्ट्रों के मध्य विद्यमान केवल राजनीतिक सम्बन्धों का ही समावेश होता है, जबकि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विभिन्न राष्ट्रों के मध्य विद्यमान संपूर्ण सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सम्बन्धों को शामिल किया जाता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की तुलना में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कलेवर अत्यंत विशाल है।

2. विषय-वस्तु के आधार पर अंतर :- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का केवल वही पक्ष सम्मिलित होता है जिसको शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। जब तक वह उद्‌देश्य कायम रहता है, तब तक ही वह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय बना रहता है। इसके विपरीत, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की कोई निश्चित विषय-वस्तु नहीं होती है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्येता के लिए उन बातों का ज्ञान होना भी आवश्यक है जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शामिल किया जाता है।

3. अध्ययन की प्रकृति के आधार पर अंतर :- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन सैद्वांतिक दृष्टिकोण से किया जाता है, जबकि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन व्यवहारिक दृष्टिकोण से किया जाता है। यही कारण है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की प्रकृति विश्लेषणात्मक होती है, जबकि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन की प्रकृति वर्णनात्मक होती है। इसके साथ-साथ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्वांत-निर्माण पर बल दिया जाता है, किंतु अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में घटनाओं का ब्यौरा ही मिलता है।

इन विभेदों के बावजूद भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक-दूसरे के नजदीक बढ़ते प्रतीत हो रहे हैं। आज दोनों के मौलिक लक्ष्य समान हैं क्योंकि दोनों ही विश्व-शांति स्थापित करने के लिए प्रयासरत हैं। इसके साथ ही दोनों का सम्बन्ध अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं से है। इसलिए मार्गेन्थो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल तत्व मानता है।

1.5 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति या स्वरूप

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप भी 'राजनीति' जैसा ही है। मार्गेन्थो कहते हैं, ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, सभी राजनीति के समान 'शक्ति के लिए संघर्ष' का नाम ही है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, पर उसका तात्कालिक उद्देश्य सदैव शक्ति ही रहता है।'' राजनीति के समान अंतर्राष्ट्रीय राजनीति भी शक्ति के लिए संघर्ष ही है। इसके मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं:-

1. राष्ट्र (राज्य) प्रमुख अभिनेता अथवा कार्यकर्त्ता है - राष्ट्रों का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वही स्थान है जो राजनीति में समूहों का। जिस तरह राजनीति समूहों के बीच अंतक्रियाओं की प्रक्रिया है इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्र राज्यों की अंतक्रियाओं की प्रक्रिया है। लेकिन राष्ट्र राज्यों के साथ-साथ उपराष्ट्रीय, पार-राष्ट्रीय तथा उच्चतर राष्ट्रीय समूह भी इसमें महत्वपूर्ण भाग लेते हैं तथा इनकी भूमिका दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। परंतु अभी भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख कार्यकर्त्ता राष्ट्र राज्य ही हैं क्योंकि इन्हीं के पास ही बल प्रयोग तथा हिंसा के साधन हैं, अन्य समूहों के पास नहीं।

2. राष्ट्रीय हित उद्देश्य है- एक राष्ट्र दूसरे राज्यों के साथ परस्पर क्रियाओं से जो प्राप्त करने का प्रयत्न करता है उसका उद्देश्य राष्ट्र हित ही होता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा तेजी से परिवर्तित होने वाले वातावरण में विभिन्न राज्य अपने-अपने हितों की पूर्ति करने में संलग्न रहते हैं। राष्ट्रीय हित ही राज्यों की अंत क्रियाओं को निर्धारित करते हैं।

3. विरोध अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थिति है- विभिन्न राष्ट्रीय हित न तो पूरी संगत होते हैं और न असंगत। विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों की असंगता ही अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष का कारण होती है- जो आपसी झगड़ों में अभिव्यक्त होती है। यह अलग बात है कि कई बार हितों को संगत बनाने के लिए राष्ट्रों का आपस में सहयोग हो जाता है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विरोध और सहयोग, बल तथा प्रभाव हमेशा उपस्थित रहते हैं। इनके अध्ययन के द्वारा ही हम अंतर्राष्ट्रीय सच्चाई को जान सकते तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक व्यवहार को समझ सकते हैं।

4. शक्ति साधन है - विरोध की परिस्थिति में हर राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहता है। इनको प्राप्त करने का साधन है-शक्ति। इसलिए सभी राष्ट्र शक्ति प्राप्त करने, उसे बनाए रखने तथा उसे बढ़ाने में निरंतर लगे रहते हैं। किसी राष्ट्र के राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने के पीछे जो शक्ति होती है उसे 'राष्ट्रीय शक्ति' कहते हैं। निश्चित परिणाम प्राप्त करने के लिए दूसरे राष्ट्रों के कार्यों तथा व्यवहार को नियोजित करने तथा नियंत्रित करने की योग्यता ही राष्ट्रीय शक्ति है।

5. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति साधन तथा साध्य दोनो हैं - अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति साधन तथा साध्य दोनों हैं। राष्ट्र सदा राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के लक्ष्य के लिए शक्ति का प्रयोग करते है। उसी के साथ वे शक्ति को राष्ट्रीय हित का अनिवार्य भाग भी मानते हैं। प्रत्येक राष्ट्र सदैव अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बनाए रखने तथा बढ़ाने के काम में लगा रहता है।

6. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विभिन्न राज्यों में विरोध सुलझाने की प्रक्रिया भी है- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, राजनीति के समान शक्ति के लिए संघर्ष ही है। राष्ट्र कार्यकर्त्ता है। राष्ट्रों द्वारा आपस में क्रिया तथा प्रतिक्रिया करने से ही अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित होते हैं। विरोध अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की शर्त है। यही तत्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इस तत्व की अनुपस्थिति में राष्ट्रीय हित तथा शक्ति के पास करने के लिए कुछ नहीं रह जाएगा। विरोध ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मूध आधार है। राष्ट्रों के आपसी झगड़ों तथा सहयोग के पीछे यही तत्व काम करता है। परंतु इसके साथ-साथ इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि केवल विरोध के अस्तित्व के कारण ही राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय हितों के समान उद्देश्यों को लेकर एक दूसरे के साथ सहयोग करना स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए विरोधों का अस्तित्व ही तीसरे संभव महायुद्ध के भय को जीवित रखता है। इसके साथ-साथ यह डर राष्ट्रों

को आपस में सहयोग करने तथा तीसरे महायुद्व को रोकने के लिए प्रभावशाली कदम उठाने के लिए भी प्रेरित करता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में, विरोध तथा सहयोग तथा राष्ट्रों द्वारा अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न तथा निरंतर विरोध की स्थित में अपना लाभदायक स्तर कायम रखने की प्रक्रिया का अध्ययन आवश्यक बना देता है। इस तरह हम अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विरोध सुलझाव की प्रक्रिया के रूप में व्याख्या कर सकते हैं।

7. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य निरंतर अंतक्रियाओं की एक व्यवस्था- क्योंकि अलग-अलग राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों का आपस में ही विरोध होता है और यह निरंतर विद्यमान रहता है। अतः विरोध को अंतर्राष्ट्रीय समाज में से पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए राष्ट्रों को आपस में सामंजस्य के निरंतर प्रयत्न की आवश्यकता रहती है। इस सामंजस्य को प्राप्त करने के लिए यह शक्ति का साधन अपनाते हैं। इसलिए वे अंतक्रियाओं की एक निरंतर प्रक्रिया में लीन रहते हैं। यही तथ्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को निरंतर बनाता है। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रों के व्यवहार को समझने के लिए इसका निरंतर विश्लेषण होना चाहिए।

8. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परितर्वन- द्वितीय विश्व युद्व के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के सैकड़ों देश अभिकर्त्ता (Actors) के रूप में उभर कर सामने आए थे। इसके कारण अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का केंद्र अब यूरोप नहीं रह गया था। अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रयोग और मुख्य अभिकर्त्ता के रूप में यह राष्ट्र शामिल हो गए थे। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर नए प्रभुत्व संपन्न राज्यों के आने से अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को कुछ गिनी-चुनी और जानी-पहचानी राजनीतिक इकाइयों के मध्य होने वाले घटनाचक्र के रूप में नहीं देखा जा सकता था। नए राज्यों के उदय के साथ उन देशों में विदेश नीति के निर्माण और उनके प्रभावकारी नेताओं की संख्या में भी वृद्वि हुई थी। पहले राजनीतिक प्रक्रिया में हिस्सा लेने वाले राज्यों की संख्या भी कम थी और उनकी विदेश नीतियों का निर्धारण एवं संचालन भी एक छोटा सा शासक वर्ग करता था। परंतु अब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन आया। नए राष्ट्रों के उदय से पुरानी व्यवस्था को बनाए रखना यूरोपीय राष्ट्रों के लिए कठिन हो गया था। नए राष्ट्रों ने अपने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास के लिए नए-नए विचार प्रस्तुत किए थे जिनके परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप पर काफी प्रभाव पड़ा। संक्षेप में नए राज्यों के उदय से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का स्वरूप वास्तविक अर्थों में अंतर्राष्ट्रीय हो गया था।

9. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का नया ध्रुवीकरण- शक्ति राजनीति ने विश्व युद्व के पश्चात् एक नया रूप धारण किया था और उसको अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में दो ध्रुवीय कहा जाता है। पुराने बहुत ध्रुवीय संसार की अपेक्षा दो-ध्रुवीय संसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का 1945 से 1991 तक महत्वपूर्ण निर्धारिक बन गया, जब 1991 में सोवियत संघ का विघटन हुआ तो दो-ध्रुवीय संसार बीते इतिहास का याद चिन्ह बनकर रह गया और संसार में कुछ अन्य शक्तिशाली देशों के होने के बावजूद संपूर्ण संसार एक-ध्रुवीय संसार के रूप में जाना जाने लगा। लेकिन धीरे-धीरे चीन, जापान, भारत, रूसी संघ और यूरोपियन संघ आदि इतने शक्तिशाली देश और अंतर्राष्ट्रीय संगठन बन गए कि संसार फिर एक-ध्रुवीय रूप से बहु-ध्रुवीय रूप वाला संसार बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए यह महत्वपूर्ण घटना है। चाहे यह संसार एक बार फिर बहु-ध्रुवीय संसार बन गया है, यदि इसके वर्तमान रूप को देखा जाए तो उसके प्रसंग में बहु-ध्रुवीय संसार का विश्लेषण किया जाए तो हमें यह स्पष्ट हो जाए कि पुराने ध्रुवीय संसार और उभर रहे बहु-ध्रुवीय संसार में बहुत अंतर है।

10. क्षेत्रीय सहयोग की बढ़ती प्रवृत्ति- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की एक रोचक विशेषता विकसित हुई है। इस विशेषता में क्षेत्रीय, बहु-राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय संगठन या गैर-सरकारी संगठन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, व्यापारिक, औद्योगिक और कई अन्य क्षेत्र विकसित हुए हैं। उदाहरण स्वरूप यूरोपीय यूनियन, सार्क (SAARC), एशियान (ASEAN), ब्रिक्स (BRICS), समूह-8, (G-8), समूह-20 (G-20), समूह-77 (G-77), समूह-15

(G-15), समूह-4 (G-4) आदि अनेक अंतर्राष्ट्रीय समूह विकसित हुए हैं जिनका स्पष्ट उद्देश्य तो आर्थिक विकास के लिए परस्पर सहयोगी होना है, लेकिन इन समूहों का एक आंतरिक उद्देश्य भी है और वह उद्देश्य बढ़ रहे अंतर्राष्ट्रीय आतंकवाद को साझे रूप में सामना करना है। पहले भी कई क्षेत्रीय समूह विकसित हुए थे, जिनमें से कुछ प्रसिद्व समूहों के नाम इस प्रकार हैं सैंटो (CENTO), सीटो (SEATO), नाटो (NATO), एन्जस (ANZUS), अरब लीग (ARAB LEAGUE), वारसा समझौता (WARSAW PACT) आदि। नाटो नामक संस्था को छोड़कर बाकी यह पुरानी क्षेत्रीय अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं खत्म हो चुकी है। यदि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वास्तविक स्वरूप देखा जाए तो यह प्रतीत होता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति काफी अधिक विकसित हो चुकी है और इसका क्षेत्र बहुत विशाल बन गया है। यह अब एक राष्ट्र या कई राष्ट्रों के प्रति निर्देशित नहीं है, बल्कि इसका वर्तमान सम्बन्ध संपूर्ण राष्ट्रीय राज्यों के अंतर्राष्ट्रीय अंतर्क्रिया से है। यह भी कह सकते हैं कि वर्तमान समय की अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्रीय राजनीति प्रणालियों के प्रति अधिकतर रूचित हो रही है।

1.6 अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का क्षेत्र एवं विषय-वस्तु

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। वह स्थिर नहीं वरन् परिवर्तनशील है। **चार्ल्स श्लाइशर** के अनुसार, यद्यपि अंतर्राज्यीय संबंध राजनीतिक नहीं होते फिर भी वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र के अंतर्गत आते हैं। **नार्मन पेडलफोर्ड व जार्ज लिंकन** के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति सम्बन्धों के परिवर्तित होते हुए ढांचों के भीतर एक-दूसरे से टकराती हुई राजनीतिक नीतयां हैं। **नार्मन पामर व मावर्ज पार्किन्स** के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति व राज्य व्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके विपरीत **हन्स मार्गेन्थो** के अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति राष्ट्रों के मध्य निरंतर होने वाले शक्ति-संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन का क्षेत्र अत्यंत अस्पष्ट है। इसलिए इसके विद्वानों में गहरा मतभेद पाया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विकास में आए परिवर्तन यह सिद्ध करते हैं कि यह एक स्वतंत्र विषय न होकर अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, अंतर्राष्ट्रीय कानून के इतिहास और कूटनीतिक इतिहास का ही एक अंग है। परंतु यदि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् के विकास का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जाता है अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अध्ययन का एक स्वतंत्र विषय है, जिसके सैद्धांतिक पक्ष का संपूर्ण विकास हो चुका है। 1954 में यूनैस्को द्वारा प्रकाशित एक अध्ययन में भी इस को स्वतंत्र विषय माना है। यह भी सत्य है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पृथक नहीं हो सकी फिर भी यह एक स्वतंत्र विषय बनने की दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है। 1947 में विदेशी मामलों की परिषद् (The Council of Foreign Relations) ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की थी जिसके अध्ययन के पश्चात **ग्रेसन किर्क** (Graison Kirk) ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति/सम्बन्ध के पांच क्षेत्र बताए थे-

(1) राज्य व्यवस्था का स्वरूप एवं कार्य प्रणाली का अध्ययन।

(2) राज्य की शक्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन।

(3) महाशक्तियों की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तथा उनकी विदेशी नीतियों का अध्ययन।

(4) वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास का अध्ययन।

(5) अधिक स्थायी विश्व व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन।

इसी तरह 1954 में 'अंतर्राष्ट्रीय शांति के कार्नेगी संस्थान' में **विन्सेट बेकर** (Vincent Baker) ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय वस्तु में निम्नलिखित विषयों को शामिल करने का सुझाव दिया था-

(1) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप और इसे प्रभावित करने वाले तत्वों का अध्ययन।

(2) अंतर्राष्ट्रीय जीवन के सामाजिक-राजनीतिक व आर्थिक संगठनों का अध्ययन।

(3) राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अध्ययन।

(4) राष्ट्रीय शक्ति की सीमाओं पर नियंत्रण और पाबंदियों का अध्ययन।

(5) महाशक्तियों की विदेशी नीति का छोटे राज्यों की विदेशी नीति पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन।

(6) आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन।

(7) राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधनों का अध्ययन।

(8) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन।

बेकर ने कई प्रवृत्तियों की तरफ भी ध्यान आकर्षित किया है जैसे कि सिद्धांत निर्माण, नीति निर्धारण क्रिया पर बल: अन्य विषयों पर निर्भरता और कई प्रकार की विशेष समस्याओं का अध्ययन आदि।

विश्व राजनीति में छपे एक लेख में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए प्रो. डन ने इसके विषय क्षेत्र में पांच अन्य विषयों अथवा घटकों को शामिल किया है:-

(1) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(2) अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था

(3) अंतर्राष्ट्रीय विधि और संगठन

(4) राजनीतिक भूगोल और

(5) राजयनिक इतिहास

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र में निम्नलिखित तथ्यों को शामिल किया है-

(1) विश्व में तनाव तथा हलचल की सामान्य दशा।

(2) आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक क्षेत्रों में राज्यों की पारस्परिक निर्भरता

(3) कानून एवं मूल्यों का सामान्य स्तर

(4) विश्व की राजनीति

(5) जीवन के आदर्श

(6) उपज और खपत

(7) जनसंख्या और साधन।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विषय-वस्तु में मतभेद के बावजूद भी हम निष्कर्ष स्वरूप इसके क्षेत्र में निम्नलिखित तत्वों के अध्ययन को शामिल कर सकते हैं:-

(1) राज्य व्यवस्था या राज्य कार्यकर्त्ता के रूप में- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति दो या दो से अधिक राज्यों के सम्बन्धों तथा आपसी क्रियाओं का अध्ययन है। प्रत्येक राज्य अपने भूगोल, जनसंख्या, औद्योगिक तथा तकनीकी विकास के स्तर, विचारधारा, कूटनीति, राष्ट्रीय हितों की सीमाओं द्वारा सीमित होता है। इसलिए अंतर्राज्य-सम्बन्धों के अध्ययन में इन अभिनेताओं तथा इन तत्वों का अध्ययन भी शामिल होना आवश्यक है। पामर तथा पर्किन्स के शब्दों में ''क्योंकि इसका आधार राज्य या राज्य प्रणाली है।'' यहीं से एक विश्व समुदाय तथा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अवश्य शुरू हो जाना चाहिए।

(2) राष्ट्रीय हित- क्योंकि राष्ट्रीय हित एक ऐसा उद्देश्य है जिसे प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के सम्बन्धों के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों का स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से अंतर्राष्ट्रीय कार्य व्यवहार में संलग्न राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों की संगति एवं असंगति की मात्रा द्वारा निश्चित किया जाता है। इससे राष्ट्रीय हित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अध्ययन का महत्वपूर्ण विषय जन जाता है।

(3) राष्ट्रीय शक्ति– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए राष्ट्रीय शक्ति की अवधारणा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। राष्ट्र कार्यकर्त्ता है परंतु वे हमेशा अपनी राष्ट्रीय शक्ति के आधार पर कार्य करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि राष्ट्रों के मध्य सम्बन्ध शक्ति–संघर्ष की प्रकृति की तरह होते हैं। मार्गेन्थो का कहना है कि ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को तभी समझ सकते हैं यदि हम हितों को शक्ति के रूप में परिभाषित करें।'' राष्ट्रीय शक्ति ही किसी राष्ट्र की विदेश नीति के उद्देश्यों को लागू करने के लिए उसकी योग्यता तथा भूमिका का निर्धारण करती है। राष्ट्रों को महाशक्तियां, मुख्य शक्तियां, बड़ी शक्तियां, छोटी शक्तियां, कमजोर शक्तियां कहना एक परंपरा है और इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय शक्ति के महत्व का पता चलता है। सभी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार शक्ति होता है इसलिए यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाती है।

(4) विभिन्न देशों की विदेश नीति– किसी भी राज्य का अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार हमेशा उसकी विदेशी नीति द्वारा नियंत्रित तथा निर्देशित होता है। विदेशी नीति राज्य के राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले कार्यों की एक विचारपूर्ण दिशा होती है। किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति ही उसकी विदेशी नीति का आधार होती है। इस विदेश नीति के द्वारा ही प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रीय हितों के उद्देश्यों को प्राप्त करता है।

(5) अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं एवं क्षेत्रीय संगठन– वर्तमान समय में राष्ट्रों के सम्बन्ध द्विपक्षीय नहीं रह गये है बल्कि ये दिन–प्रतिदिन बहुपक्षीय होते जा रहे हैं। राष्ट्रों के इन बहुपक्षीय सम्बन्धों के संचालन में अंतर्राष्ट्रीय संगठन अति महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ये संगठन राष्ट्रों के मध्य सहयोग स्थापित का कार्य करते हैं। वर्तमान समय में राष्ट्रों के मध्य सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सैनिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए संस्थागत साधनों के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की तेजी से वृद्धि हो रही है। आज संयुक्त राष्ट्र एकमात्र अंतर्राष्ट्रीय संगठन ही नहीं रह गया है बल्कि अनेक प्रकार के क्षेत्रीय संगठन भी अस्तित्व में आ चुके हैं। यूरोपीयन सांझा बाजार, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन, अरब लीग, अमेरिकी राज्यों का संगठन, अफ्रीकी एकता संगठन, दक्षेस, आसियान, अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन आदि कुछ ऐसे ही संगठन हैं।

(6) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के आर्थिक उपकरण– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाले आर्थिक एवं व्यापारिक सम्बन्धों की भूमिका कम महत्वपूर्ण नहीं है। आज विदेशी सहायता, कर्ज, व्यापार आदि राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों को प्रभवित करने वाले प्रमुख आर्थिक उपकरण हैं। इसलिए आज विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासशील राष्ट्रों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता, कर्ज, व्यापार और भुगतान समझौते तथा कार्टेल्स का प्रयोग अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी की रूचि के विषय बन गये हैं।

(7) युद्ध एवं शान्ति की गतिविधियां– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्बन्ध युद्ध एवं शांति के प्रश्नों से भी होता है। अनेक प्रकार के गंभीर विवादों के समाधान के लिए राष्ट्रों को कभी–कभी युद्ध का सहारा भी लेना पड़ता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि आज राष्ट्र बिना हथियारों का प्रयोग किये भी राष्ट्र युद्ध लड़ सकते हैं। आर्थिक प्रतिबंधों के द्वारा भी एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरूद्ध आर्थिक युद्ध लड़ सकता है। पारंपरिक युद्ध में 'शीत युद्ध' (cold war) ने एक नया अध्याय जोड़ दिया है। इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति युद्ध एवं शांति सम्बन्धी गतिविधियों के चारों ओर चक्कर लगाती रहती है।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसा विषय है जिसका निरंतर विकास हो रहा है। बदलते हुए अंतर्राष्ट्रीय परिवेश के साथ गति बनाए रखना इसके लिए आवश्यक हो गया है। इसलिए इसके क्षेत्र में निरंतर विस्तार होता जा रहा है। आज अनेक गैर–सरकारी संगठन भी इसके अध्ययन में शामिल हो चुके हैं।

(8) नई व पुरानी समस्याओं का सुलझना– इसमें किसी भी स्त्रोत से प्राप्त होने वाले ज्ञान का संग्रह होता है जो पुरानी अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझने व नयी समस्याओं के निदान में सहायक हो सके। इसमें राजनैतिक समूहों या व्यक्तियों के व्यवहार से संबंधित सामान्य ज्ञान आता है तथा साथ ही नीति सम्बन्धों प्रश्नों या घटनाओं से

संबंधित विशेष सूचनाएं होती हैं। सामान्य ज्ञान से प्रश्नों की जांच करने के लिए तार्किक प्रयास होते हैं जहां तक व्यवहार सम्बन्धी प्रश्नों का सम्बन्ध है इसमें हम संलग्न प्रश्नों पर विचार करने के प्रयासों, मूल्य से संबंधित लक्ष्यों के वर्गीकरण प्राप्त कार्यों के संभावित परिणाम व विकल्पों का उल्लेख करते हैं।

(9) सामाजिक संघर्षों एवं समायोजन का अध्ययन– अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की मुख्य रूचि उस ज्ञान से रहती है जो सामाजिक दशाओं के एक विशेष समूह को सुधारने एवं नियंत्रित करने के लिए उपयुक्त है। इसका लक्ष्य वांछनीय दिशाओं में व्यवहारिक घटनाओं को मोड़ने के लिए ज्ञान प्राप्त करना होता है। इस अर्थ में यह नीति सम्बन्धी विज्ञान है जो राजनीति, अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा अन्य सामाजिक अनुशासनों से अधिक भिन्न नहीं है।

(10) मानवीय व्यवहार का अध्ययन– राबर्ट स्ट्राइस्जह्मपूव स्टिफान पाजनी का विचार है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में नागरिकों के कार्यों और राजनीतिक महत्व वाले गैर सरकारी समुदायों के क्रियाकलापों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में निर्णय लेने की प्रक्रिया का महत्व है। ये निर्णय ऐसे व्यक्तियों या व्यक्ति–समूहों द्वारा लिए जाते हैं जो पहचाने जा सके।

(11) सांस्कृतिक अध्ययन– सांस्कृतिक व्यवहारों के अध्ययन से प्रभावपूर्ण विचार करने के तरीकों का ज्ञान होता है। इससे विद्यार्थी को अपने परिवेश के इस महत्वपूर्ण भाग को समझने की योग्यता प्राप्त होती है। प्रजातंत्रीय देशों में तो यह तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण है।

(12) सामान्य ज्ञान– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत राजनीतिक समूहों अथवा व्यक्तियों के व्यवहार से संबधित ज्ञान आता है। इसके साथ ही नीति सम्बन्धी प्रश्नों अथवा घटनाओं से संबंधित विशेष सूचनाओं को भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है।

(13) बहु–राष्ट्रीय निगमों जैसे गैर–राजकीय कार्यकर्त्ता का अध्ययन– आधुनिक समय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत विभिन्न राष्ट्रों के अतिरिक्त गैर–राजकीय कार्यकर्त्ताओं जैसे कि राष्ट्र पार कपंनियों, बहु–राष्ट्रीय कंपनियों, बहु–राष्ट्रीय संगठन, गैर–सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी संगठन आदि भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अध्ययन का प्रमुख विषय है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात विश्व दो गुटों साम्यवादी गुट और पूंजीवादी गुटों में बंट गया था। इन दोनों गुटों की राजनीति ने विश्व राजनीति को काफी प्रभावित किया था। इसके अतिरिक्त नव स्वतंत्र राज्यों का समूह G-20, G-77, G-15, G-8, G-4, अरब समुदाय, तेल उत्पादक देशों का समूह, अफ्रीकी देशों का समूह आदि ऐसे अनेकों संगठन हैं जोकि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के विषय क्षेत्र बन गए हैं।

(14) अंतर्राष्ट्रीय विधि का अध्ययन– अंतर्राष्ट्रीय विधि को भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण विषय स्वीकार किया जाता है। हम सभी यह जानते हैं कि विभिन्न राष्ट्रों द्वारा ऐसे ही अंतर्राष्ट्रीय नियमों का पालन किया जाता है जोकि उनके राष्ट्रीय हितों की रक्षा करता हो, शेष का नहीं। युद्ध और शांति दोनों ही विषयों पर अंतर्राष्ट्रीय विधि विचार करती है। अंतर्राष्ट्रीय विधि युद्ध को कुछ मानवीय बनाने का प्रयत्न करती है तथापि युद्ध और मानवीयता परस्पर विरोधी हैं। शांतिकालीन अंतर्राष्ट्रीय विधि, राष्ट्रों के मध्य हुई संधियों, कानून के सामान्य सिद्धांतों एवं रूढ़ियों तथा परंपराओं पर आधारित होती है। यह भी जानना आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय विधि, राष्ट्रीय कानून या विधि के समान व्यापक और सुनिश्चित नहीं होती है और न ही उसे राष्ट्रीय विधि के समान लागू किया जा सकता है। विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का संचालन करने में अंतर्राष्ट्रीय विधि का काफी महत्व होता है जिस प्रकार समाज में व्यक्ति बिना नियमों, कानूनों एवं रीति–रिवाजों के नहीं रह सकता उसी प्रकार कोई भी राज्य बिना अंतर्राष्ट्रीय विधि के अन्य राज्यों से अपने विभिन्न तरह के सम्बन्ध नहीं बना सकता है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अंतर्राष्ट्रीय विधि के अध्ययन पर बल देने वाला विषय बन गया है।

(15) अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियंत्रकों का अध्ययन–: अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के नियंत्रकों का भी अध्ययन किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में विभिन्न राष्ट्रों के आपसी व्यवहार को नियंत्रित

और निर्देशित करने के लिए अनेकों अवधारणाएं प्रचलित हैं जैसे कि शक्ति संतुलन की अवधारणा, क्षेत्रीयवाद, निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र नियंत्रण, सामूहिक सुरक्षा, कूटनीति, खेल सिद्धांत, विश्व जनमत, एमनेस्टी इंटरनेशनल, अंतर्राष्ट्रीय मानव अधिकार परिषद् और अब अंतर्राष्ट्रीय मानवीय अधिकार परिषद् आदि प्रमुख संगठन नियंत्रक की भूमिका अदा करती है।

(16) आतंकवाद के वैश्वीकरण की समस्या का सर्वपक्षीय अध्ययन– कोई समय था जब अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक साधारण विषय था, क्योंकि न तो उस समय अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का इतना अधिक विकास हुआ था जितना कि 21वीं शताब्दी में नजर आता है और न ही परमाणु सशस्त्रीकरण इतना अधिक बढ़ाया था कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को ऐसी गम्भीर समस्या का सामना करना पड़ा हो, लेकिन वर्तमान समय तो अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी बहुत जटिल हो गए हैं। दो ध्रुवीय संसार के पश्चात एक ध्रुवीय संसार का काल भी मानवता ने देखा और फिर बहु ध्रुवीय संसार की प्रवृत्तियां प्रफुलित होती नजर आती हैं। अमेरिका की प्रमुखता सम्बन्धी भी आंतकवादियों ने प्रश्न चिन्ह उत्पन्न कर दिया है। 9/11 के आतंकवादियों के हमले ने संयुक्त राज्य अमेरिका की शान और श्रेष्ठता पर वह धब्बा लगाया है जो कभी भी नहीं मिट सकेगा। अतांकवाद का वैश्वीकरण इतना अधिक हो गया है कि संयुक्त राष्ट्र और दूसरी क्षेत्रीय अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं की भी साधारण कार्यशीलता कायम नहीं रही है, बल्कि उनमें कुछ परिवर्तन स्वाभाविक रूप में आ गए हैं चाहे संयुक्त राष्ट्र की महासभा का सम्मेलन हो (General Assembly of U.N.), संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद सम्मेलन (Security Council) हो, संयुक्त राष्ट्र की सामाजिक और आर्थिक परिषद (Social and Economic Council of U.N.) का सम्मेलन हो, गुट (NAM) देशों का शिखर सम्मेलन हो, राष्ट्र मंडल के देशों का शिखर सम्मेलन हो, सार्क (SAARC), एशियान (ASEAN), ओपेक (OPEC) या किसी अंतर्राष्ट्रीय खेल उत्सव का सम्मेलन होना हो, वहां आतंकवाद सम्बन्धी बहस अवश्य होगी, सर्व–सहमति से यह प्रस्ताव भी पास किया जाएगा कि वह सब मिलकर आतंकवाद का सामना करेंगे और आतंकवाद को हर अवस्था में कुचल देने के लिए दृढ़ संकल्प हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति द्वारा आतंकवाद के वैश्वीकरण का बहुपक्षीय व्यवहारिक अध्ययन करके विश्व स्तर पर इसको पूर्णतया समाप्त करने की प्रभावशाली योजनाएं बनाई जा सकती हैं।

(17) परमाणु शक्ति के विकास का अध्ययन– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र के अंतर्गत परमाणु शक्ति के विकास का अध्ययन भी किया जाता है। विश्व में सर्वप्रथम परमाणु शक्ति का परीक्षण व प्रयोग 1945 में अमेरिका के द्वारा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापान के विरूद्ध उसके दो शहरों नागासाकी और हिरोशिमा पर परमाणु बम गिराकर किया था। अमेरिका के पश्चात् 1949 में सोवियत संघ ने परमाणु परीक्षण करके अमेरिकी एकाधिकार को चुनौती दी थी। ब्रिटेन परमाणु शक्ति हासिल करने वाला तीसरा राष्ट्र था जिसने 1953 में परमाणु शक्ति प्राप्त की थी 1956 में फ्रांस और 1963 में साम्यवादी चीन ने भी परमाणु शक्ति प्राप्त कर ली थी।

इस तरह पांच प्रमुख देशों ने परमाणु शक्ति प्राप्त कर ली थी। इन पांचों देशों ने अपना एक परमाणु क्लब बना लिया था और अपनी परमाणु शक्ति की प्रौद्योगिकी किसी अन्य राष्ट्र को हस्तातंरित करने से इंकार कर दिया था। इसके बावजूद 1974 में भारत ने प्रथम बार परमाणु परीक्षण करके पांचों परमाणु शक्तियों को चौंका दिया था। मई 1998 में भारत ने पुनः पांच परमाणु परीक्षण किए जिसके शीघ्र पश्चात् पाकिस्तान ने भी छः परमाणु परीक्षण करके स्वयं को परमाणु शक्ति संपन्न राष्ट्र घोषित किया था। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि इन सात देशों के अतिरिक्त यूक्रेन, उजबेकिस्तान, इजराइल, उत्तरी कोरिया, दक्षिण अफ्रीका, ईरान, ब्राजील आदि देशों के पास भी परमाणु शक्ति है अथवा वह इसके विकास में लगे हुए हैं। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति परमाणु शक्ति के विकास को अपने अध्ययन का प्रमुख विषय मानती है।

(18) मानवीय अधिकारों के मद्दों का अध्ययन– मानवीय अधिकारों के उल्लंघन की समस्या आज संसार की समस्या बन गई है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मानवीय अधिकारों के मुद्दों के अध्ययन को शामिल किया

गया है। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए मानवीय अधिकार आयोग की व्यवस्था की गई थी। मानवीय अधिकार आयोग की सिफारिश पर ही 10 दिसंबर, 1948 को मानवीय अधिाकारों की सर्वपक्षीय घोषणा की गई थी और संयुक्त राष्ट्र के सदस्य देशों से उम्मीद की गई थी कि वह अपने-अपने नागरिकों के मानवीय अधिकारों की रक्षा को सुनिश्चित बनाने के यत्न करेंगे। 80 के दशक में मानवीय अधिकारों की उल्लंघना के अनेक मामले सामने आए, जिस कारण संसार के मानवीय अधिकारों के पक्षधर लोगों ने इसके बारे में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आवाज उठाई और आंदोलन आरंभ कर दिए थे। इसी समय मानवीय अधिकारों की रक्षा का विषय पूर्ण रूप से राजनीतिक मुद्दा बन गया और इसने 'मानवीय अधिकारों की राजनीति' को जन्म दिया था। मई 2007 में मानवीय अधिकार आयोग की जगह पर मानवीय अधिकार की रक्षा के लिए अब यह संस्था उत्तरदायी है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मानवीय अधिकारों के मुद्दों का अध्ययन वर्तमान समय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण विषय बन चुका है।

(19) वातावरण की सुरक्षा के मुद्दों का अध्ययन- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को वातावरण की सुरक्षा के मुद्दों का अध्ययन भी माना जाता है। वर्तमान समय में संसार का वातावरण बहुत खराब हो रहा है। संसार का प्रत्येक देश चाहे विकसित देश या फिर विकासशील वह अधिक या कम वातावरण को अनिवार्य रूप से प्रदूषित करता है। वातावरण प्रदूषण कई प्रकार का होता है, जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, शोर प्रदूषण तथा भूमि प्रदूषण। संसार में फैल रहे विभिन्न प्रकार के प्रदूषण के कारण मनुष्यों में अनेकों प्रकार की बीमारियां और खतरे पैदा हो रहे है, तापमान में बढ़ोत्तरी हो रही है और धरती पर ओजोन के स्तर को भी खतरा पैदा हो गया है। संसार में वातावरण की सुरक्षा को पैदा हुए खतरे को देखते हुए इसकी रोक के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यत्न आरंभ किए गए हैं, जिसमें पृथ्वी सम्मेलन भाग दो 2002, वाली सम्मेलन 2007, कोपनहैग सम्मेलन 2009 और कानकून सम्मेलन 2010 मुख्य है। संसार के सभी देश वातावरण की सुरक्षा के मुद्दे से परिचित हो चुके हैं और इस पर रोक लगाने पर जोर दे रहे हैं।

(20) शक्ति संतुलन और नि:शस्त्रीकरण- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय क्षेत्र में हम शक्ति संतुलन और नि:शस्त्रीकरण के लिए विषय को भी शामिल करते हैं। शक्ति संतुलन का अर्थ है कि शक्ति का समान भाग में विभाजित रहना। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में शक्ति संतुलन से हमारा अभिप्राय विभिन्न राष्ट्रों के मध्य कम से कम स्थूल संतुलन कायम होना है। **क्लॉड (Claud)** के अनुसार ''शक्ति संतुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न राष्ट्र अपने आपसी शक्ति सम्बन्धों को बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वतंत्रतापूर्वक संचालित करते हैं। इस प्रकार यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था है जिसमें शक्ति नीति निर्णायक इकाइयों के हाथों में ही रहती है।'' संक्षेप में विभिन्न राज्यों की शक्ति दो शक्तिशाली पक्षों में लगभग समान रूप से बंटी रहे, कोई भी एक पक्ष या एक राज्य अन्य राज्यों पर हावी न हो, इतना शक्तिशाली न हो कि वह दूसरे पर हमला करने, उस दबाने या हराने में समर्थ हो।

नि:शस्त्रीकरण, अंतराष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का ऐसा विषय-क्षेत्र है जिसके आधार पर एक राज्य के द्वारा दूसरे राज्य के प्रति किए जाने वाले पारस्परिक व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है। नि:शस्त्रीकरण ऐसा साधन है जिसके माध्यम से किसी भी राज्य की शक्ति को इतना अधिक विकसित नहीं होने दिया जाता है कि अन्य राज्यों की सुरक्षा संकट में पड़ जाए। नि:शस्त्रीकरण का सामान्य अर्थ ''अस्त्रों-शस्त्रों में कमी तथा उन्हें समाप्त करने से है।'' अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नि:शस्त्रीकरण एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है जोकि मानव मात्र की ही सुरक्षा नहीं करता अपितु संपूर्ण मानव सभ्यता की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी है। यदि हम नि:शस्त्रीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करते हैं तो यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी घटना होगी। यह उपलब्धि न केवल वर्तमान समाज के लिए अपितु आने वाले भावी पीढ़ियों के लिए भी वरदान सिद्ध होगी।

1.7 अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन का महत्व

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए एक ऐसी शांतिपूर्ण विश्व व्यवस्था कायम करना है जिसमें कि प्रत्येक राष्ट्र सह-अस्तित्व के आधार पर दूसरे राष्ट्रों से सहयोग प्राप्त करते हुए आत्म विकास कर सके। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के महत्व की चर्चा निम्नलिखित रूप से की जा सकती है:-

1. अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना - अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन का एक प्रमुख उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का तथ्यात्मक विश्लेषण करके उनके समाधान खोजना है। उदाहरण के लिए आज आतंकवाद एक अंतर्राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर चुका है। अत: इसका समुचित एवं प्रभावी समाधान प्रस्तुत करना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक प्रमुख उद्देश्य बन गया है।

2. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मौलिक तत्वों की जानकारी– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए इसके आधारभूत तत्वों का ज्ञान अति आवश्यक हैं। नि:शस्त्रीकरण, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, नवीन अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा अर्थव्यवस्था का भूमंडलीकरण आदि कुछ ऐसे ही प्रमुख तत्व हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से हमें इनकी समुचित जानकारी मिलती है।

3. विश्व सरकार की पृष्ठभूमि तैयार करना– आधुनिक समय के विख्यात दार्शनिक बट्रेण्ड रसेल के मतानुसार विश्व सरकार ही विश्व शांति कायम कर सकती हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के अंतर्गत विश्व सरकार की अवधारणा और उसके स्थापित करने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का अध्ययन किया जाता है। वस्तुत: अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के माध्यम से इसकी स्थापना के पक्ष में वातावरण तैयार किया जा सकता है।

4. राष्ट्रों की विदेश नीति का अध्ययन– **फैलिक्स ग्रास** के मतानुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन, राष्ट्रों की विदेश नीतियों के अध्ययन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नि:संदेह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विदेश–नीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति स्पष्ट रूप से विदेश नीति के माध्यम से प्रकट होती है। इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन से विदेश नीति के अध्ययन की मांग पर्याप्त सीमा तक पूरी हो जाती है।

5. विश्व घटनाओं को समझने के लिए– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांतों के माध्यम द्वारा विश्व में घटने वाली घटनाओं को समझा जा सकता है। इस विषय के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य एक–दूसरे के साथ अंतर–क्रियाएं कुछ विशेष राष्ट्रीय हितों के आधार पर करता है इसीलिए इन अंतर क्रियाओं में किसी नैतिक मूल्यों को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है।

6. गैर–राजनीतिक सम्बन्धों को समझने में सहायक– अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में केवल अंतर–प्रक्रिया के केवल राजनीतिक पक्ष को समझना ही आवश्यक नहीं है। यद्यपि उन विशिष्ट तत्वों को भी इसके माध्यम से समझा जा सकता है जो स्पष्ट रूप में गैर–राजनीतिक है, लेकिन निहित रूप में राजनीतिक होते हैं जैसे कि किसी राज्य के विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों की हड़ताल गैर–राजनीतिक और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के लिए महत्वहीन लगती है। लेकिन विश्लेषण करने पर वह उस राज्य में छिपे हुए राजनीतिक विद्रोह या राज्य में तोड़फोड़ की नीति का प्रतीक हो सकती है। इसलिए खोजकर्त्ता किसी घटना को स्वतंत्र रूप में नहीं बल्कि समूचे अंतर्सम्बन्धों के आधार पर विचार पेश करता है।

7. सामान्य नागरिक के लिए उपयोगी– वर्तमान समय में संचार साधनों के विकास, शिक्षा के प्रसार और लोकतंत्रीय विधियों के विस्तार के साथ सामान्य नागरिक भी विदेशी क्षेत्र में बहुत अधिक रूचि रखने लग गया है। लेबनान में इजरायली सैनिकों की ओर से फिलिस्तीनियों की हत्या विश्व के समूचे नागरिकों के लिए दु:खदायी घटना है और वह इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। लेकिन एक सामान्य नागरिक राजनीतिज्ञों की नैतिक बातों पर संदेह करता है और असल उद्देश्य को नहीं समझता। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विषय का अध्ययन उसको राज्यों और राजनीतिज्ञों के वास्तविक उद्देश्यों को समझने की योग्यता प्रदान करता है।

8. विश्व शांति व सुरक्षा बनाए रखने में सहायक– आज अंतर्राष्ट्रीय राजनीति केवल शक्ति के लिए ही संघर्ष नहीं मानी जाती बल्कि इसका अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा को बनाए रखने के लिए भी किया जाता है। आज विश्व भर में अनेकों क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय संगठन इस दिशा में प्रयत्न कर रहे हैं। राष्ट्रीय नेता भी अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान ढूंढने के निरंतर प्रयत्न कर रहे हैं। यह सभी कुछ अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विषय ही है।

9. न्याय पर आधारित विश्व को समझने में सहायक- आज विश्व के राष्ट्र असमानताओं के कारण दुःखी है। कुछ राष्ट्र ज्यादा अमीर और शक्तिशाली होने के कारण गरीब और कमजोर राष्ट्रों का शोषण कर रहे हैं। इन असमानताओं के कारण ही गरीब और पिछड़े हुए राष्ट्र इकट्ठे होकर विकसित राष्ट्रों से आर्थिक, तकनीकी और वैज्ञानिक सहायता की मांग कर रहे हैं। वहीं सभी न्याय पर आधारित विश्व स्थापना की बात कर रहे हैं और काफी सीमा तक अपने इन उद्देश्यों में सफल भी हुए हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय का अध्ययन करने के बाद हमें इन समस्याओं के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

1.8 स्वयं जांच प्रश्न (प्रश्नों के उत्तर के लिए 1.11 देखें)

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का आरम्भ कब से माना जाता है?
2. यह कथन किसका है कि, ''राष्ट्रों में शान्ति के लिए संघर्ष और शक्ति के प्रयोग को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध कहा जाता है।''
3. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का उदय 20वीं सदी के आरम्भ में किस देश में हुआ?
4. "Politics among Nation" पुस्तक किसने लिखी है?
5. ग्रेसन किर्क ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कितने क्षेत्र बताए हैं?

1.9 सारांश

इस अध्याय में हमने पाठकों का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति सम्बन्ध से परिचय कराया है। 1991 में वेल्स विश्वविद्यालय में प्रथम अंतर्राष्ट्रीय पीठ की स्थापना के साथ ही यह विषय विकसित होने लगा। अपने आप में यह एक दिलचस्प कहानी है कि राजनयिक इतिहास से जन्मा यह विषय कैसे आज एक वैज्ञानिक विषय बन गया है। एक स्थिति के रूप में अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध संप्रभु देशों के बीच अधिकारिक सम्बन्धों का सूचक है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति/सम्बन्ध भिन्न-भिन्न देशों के बीच मौजूद अधिकारिक एवं राजनीतिक सम्बन्धों का विश्लेषण करती है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ही एक अंश है। इस अध्याय में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति, क्षेत्र एवं महत्व पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है।

1.10 शब्दावली

विषय - क्रमबद्ध रूप से विकसित ज्ञान की एक शाखा

प्राचीनतम - घटनाओं की वास्तविक स्थिति

व्यवहार - दीर्घकालिक व इतिहास सम्मत

शक्ति - 'शक्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ उस क्षमता से है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित अथवा प्रभावित करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था - अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण राष्ट्रों राज्यों या साम्राज्यों के ऐसे स्वतन्त्र राजनीतिक इकाईयों द्वारा होता है जो शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास रखते हैं।

सामुहिक सुरक्षा - हमलों के खिलाफ सुरक्षा स्थापित करने की ऐसी रणनीति जिसमें दुनियां के देश मिलजुल कर सांझाी आर्थिक व सैन्य कार्यवाही की योजना बनाते हैं।

1.11 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तरः

1. 1919
2. मॉर्गेन्थो
3. अमेरिका
4. मार्गेन्थो
5. पांच

1.12 ग्रन्थ सूची

- मार्गेन्थो हॉन्स, **पालिटिक्स उमंग नेशन्स.**
- वी. एन खन्ना, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: विकास पाब्लिशिंग हाऊस, 1999).
- प्रभुदत्त शर्मा, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति** (जयपुर: कॉलेज बुक डिपो).
- तपन विसवाल, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध** (ओरियंट ब्लैक स्वॅान).
- जी. एम गोथोर्न, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति का समीक्षा इतिहास** (न्यू दिल्ली : एस चन्द एण्ड कम्पनी).
- यू.आर.घई, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीतिः सिद्धान्त एवं व्यवहार,** (जालन्धर: न्यू एकडोमिक पब्लिशिंग कम्पनी, 2000).

1.13 स्वयं जांच परिक्षण एवं अभ्यास प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति/सम्बन्ध से क्या अभिप्राय है? इसकी प्रकृति का वर्णन करों।
2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए।
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय-वस्तु एवं क्षेत्र के साथ-साथ इसके महत्व पर भी प्रकाश डालें।
4. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में क्या अन्तर है? वर्णन कीजिए।

*****

अध्याय-2
मॉर्गेन्थो का यथार्थवादी दृष्टिकोण

संरचना

2.0 भूमिका
2.1 अधिगम उद्देश्य
2.2 उपागम और सिद्धांत
2.3 मॉर्गेन्थो के राजनीति के प्रति विचार
2.4 मॉर्गेन्थो के सिद्धांत को यथार्थवादी सिद्धांत क्यों कहा जाता है?
2.5 मॉर्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का आधार
2.6 मॉर्गेन्थो के राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धांत
2.6.1 पहला सिद्धांत
2.6.2 दूसरा सिद्धांत
2.6.3 तीसरा सिद्धांत
2.6.4 चौथा सिद्धांत
2.6.5 पांचवां सिद्धांत
2.6.6 छठा सिद्धांत
2.7 यथार्थवादी सिद्धांत की आलोचनाएं
2.8 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में मॉर्गेन्थो का योगदान
2.9 स्वयं जांच प्रश्न
2.10 सारांश
2.11 शब्दावली
2.12 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर
2.13 ग्रन्थ सूची
2.14 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

2.0. भूमिका

हान्स जे. मॉरगेन्थाऊ शिकागो विश्वविद्यालय (अमेरीका) के राजनीति विज्ञान विभाग में प्राचार्य रहे हैं। वे इन्स्टीटयूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी के सदस्य, वाशिंगटन सेंटर ऑफ फॉरेन पॉलिसी रिसर्च के सहयोगी तथा अनेक विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर रह चुके हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थवादी विचारधारा के वे प्रतिनिधि प्रवक्ता हैं तथा वर्षो तक वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रधान सिद्धांतकारों में अग्रणी रहे है। उनकी रचना 'पॉलिटिक्स एमंग नेशन्स' अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का पहला ऐसा ग्रंथ है जिसका निर्माण सैद्धांतिक पृष्ठभूमि (Theoretical Framework) के आधार पर हुआ है। इसके प्रकाशन (1949) से आज तक इस विषय क्षेत्र की मौलिक कृतियों में इसकी गणन होती है। मॉरगेन्थाऊ की अन्य प्रमुख कृतियों एवं शोध लेखों में 'साइण्टिफिक मैन बनाम पावर पॉलिटिक्स 1946', इन डिफेन्स ऑफ दि नेशनल इण्टरेस्ट, 1951 तथा 'हिलेमाज ऑफ पॉलिटिक्स' 1958 है।

मार्गेन्थो की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की यथार्थवादी विचारधारा-राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष जिसमें हम शक्ति के स्वरूप में ''राष्ट्रीय हितों के रूप में विश्लेषण करते हैं- ने न केवल अति आदर्शवाद का सुदृढ़ विकल्प दिया बल्कि अपने आप में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन को हाथों में लेने के लिए महत्वपूर्ण प्रेरणा स्त्रोत के रूप में कार्य किया। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन पर मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का जो प्रभाव है इसका अनुमान कैनिथ डब्ल्यू थॉम्पसन की इस टिप्पणी से लगाया जा सकता है। ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीत का बहुत सा साहित्य मार्गेन्थो तथा उसके आलोचकों के मध्य स्पष्ट या अस्पष्ट, संवाद मात्र ही है।'' इसलिए मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत पर विस्तारपूर्वक विचार विमर्श करना अनिवार्य है। इस अध्याय में मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत की विस्तृत विवेचना की गई है। यह भी बताया गया है कि सिद्धान्त को यर्थाथवादी सिद्धान्त क्यों कहा जाता है तथा इस सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में क्या महत्व है।

2.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी मुख्य रूप से -

- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी दृष्टिकोण को समझ सकेंगे।
- मार्गेन्थो के राजनीतिक यथार्थवाद के सिद्धांतों को जान सकेंगे।
- मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में मार्गेन्थो के योगदान को समझने में सक्षम होंगे।

2.2 उपागम और सिद्धांत : अभिप्राय

अंतर्राष्ट्रीय संबंध के अध्ययन के कई उपागम अथवा दृष्टिकोण प्रचलित हैं और सिद्धांत निर्माण के प्रयत्न किए जा रहे हैं। अत: यहां दृष्टिकोण (उपागम) तथा सिद्धांत से अभिप्राय समझना आवश्यक है। दृष्टिकोण या उपागम के अंतर्गत समस्याओं या प्रश्नों के चुनाव में प्रयुक्त कसौटियां और अनुसंधान के लिए ली गई आधार सामग्री आती है। दूसरे शब्दों में दृष्टिकोण का अर्थ मानकों का एक समूह जिसके आधार पर सैद्धांतिक विचार-विमर्श के लिए प्रश्न और आधार सामग्री लेने या छोड़ने का निर्णय किया जाता है। किसी भी घटना के अध्ययन के लिए अनेक दृष्टिकोण (उपागम) हो सकते हैं। किसी दृष्टिकोण की सर्वग्राहिता सब तथ्यों को अपने ही परिप्रेक्ष्य से देखती है और जिस घटना के बारे में यह विचार करती है उस घटना की व्याख्या भी उसकी दृष्टिकोण से करती है।

दृष्टिकोण का अगला चरण **'सिद्धांत'** कहलाता है। जब दृष्टिकोण का कार्य विचाराधीन विषय के बारे में समस्याओं और आधार सामग्री के चुनाव से आगे जाता है तब दृष्टिकोण सिद्धांत का रूप ले लेता है। कुछ लोग सिद्धांत शब्द का प्रयोग किसी विवेचन या दृष्टिकोण के लिए करते हैं, जबकि अन्य लोग इसे 'व्याख्या की चरम परिणति' कहकर पुकारते हैं। किसी भी विज्ञान के नियमों की व्याख्या (exposition of the principles of a sceince) ही सिद्धांत है। सिद्धांत वे तर्कसंगत अनुमान हैं जो किसी भी घटनाक्रम के मूल कारणों की विवेचना करते हैं। सिद्धांत वे प्रस्थापनाएं हैं जिनसे वस्तु की व्याख्या करने का प्रयत्न किया जाता है। सिद्धांत का मुख्य कार्य व्याख्या करना है। इसी आधार पर दृष्टिकोण का सिद्धांत से निकट संबंध होता है। दृष्टिकोण के स्वरूप से सामान्यीकरण, व्याख्या, पूर्वकथन (भविष्यवाणी) और विहितीकरण (Prescription) जो सब किसी सिद्धांत के मुख्य कार्यो में है- प्रकट होते हैं। वस्तुत: सिद्धांत का स्वरूप दृष्टिकोण से निर्धारित होता है और दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

2.3 मार्गेन्थो के राजनीति के प्रति विचार

मार्गेन्थो अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का आदर्शवादी विचारधारा का 'शांति की ओर संचालन' के रूप में खंडन करता है तथा इसका वर्णन 'राष्ट्रों के मध्य संघर्ष' के रूप में करता है। वह कहता है ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति अन्य सभी राजनीतियों की तरह शक्ति के लिए संघर्ष है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे कुछ भी हो, इसका

तात्कालिक उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है।'' प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों को शक्ति द्वारा प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। इससे राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष का जन्म होता है तथा यही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र बिंदु, अच्छी वास्तविकता तथा पूर्ण ताना-बाना है। इस अर्थ से तो हम यह कह सकते हैं कि मार्गेन्थो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के दृष्टिकोण को अपनाते हैं तथा अपना सारा अध्ययन राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन पर लगाते हैं।

2.4 मार्गेन्थो के सिद्धांत को यथार्थवादी सिद्धांत क्यों कहा जाता है?

मार्गेन्थो के सिद्धांत को इसलिए यर्थावाद कहा जाता है क्योंकि यह मानव के स्वभाव जो यह वास्तव में है तथा वास्तव में घटी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से संबंधित है। एक राष्ट्र हमेशा अपने हितों को बनाए तथा सुरक्षित रखना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय शक्ति एक साधन है। इस तरह प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ शक्ति संघर्ष में लिप्त रहता है। मार्गेन्थो लिखते हैं कि शक्ति संघर्ष राष्ट्रों के मध्य संबंधों की स्वाभाविक तथा अपरिवर्तनीय वास्तविकता है तथा इसलिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझाने के लिए बहुत आवश्यक है। यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वास्तविक तथा सच्चा स्वरूप है तथा इसलिए मार्गेन्थो जैसे इसके समर्थक अपने आपको यथार्थवादी कहते हैं। यथार्थवाद के मुख्य समर्थकों में एरिक कॉफमैन, हेराल्ड लॉसवेल, डेविड ईस्टन, एन. जे. स्पाईक मैंन, कैनेथ, ट्रीटश्के और हॉन्स जे. मार्गेन्थों आदि को शामिल करते हैं।

2.5 मार्गेन्थो के यर्थावादी सिद्धांत का दार्शनिक आधार

मार्गेन्थो का यथार्थवाद एक पुरातन परंपरा से संबंध रखता है तथा इस बात में विश्वास रखता है। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की पूर्ण वास्तविकता तथा इससे सम्बद्ध घटना-चक्र का वर्णन करने के योग्य एक अकेला पूण सिद्धांत हो सकता है। वे दो मापदंड हमारे सामने रखते हैं जिस पर हर सिद्धांत को पूर्ण सर्वमान्य सिद्धांत स्वीकार होने से पहले पूरा उतरना होता है। यह है; आनुभविक (empirical) तथा तर्कसंगत (logical) होना। मार्गेन्थो के शब्दों में ''सिद्धांत का अर्थ है तथ्यों का पता लगाना तथा फिर तर्क द्वारा उन्हें अर्थ देना।'' इसका उद्देश्य विषय के अध्ययन में एक क्रमबद्धता पैदा करना है। वास्तविक तथ्यों द्वारा परीक्षित एक तर्कसंगत परिकल्पना ही ठीक सिद्धांत का रूप ले सकती है। मार्गेन्थो ने अपने मॉडल में शक्ति (power) पर मुख्य रूप से बल दिया है इसलिए इसे 'शक्ति दृष्टिकोण' (power approach) भी कहा जाता है। मार्गेन्थो की मान्यता है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल आधार 'शक्ति' के रूप में परिभाषित हित की अवधारणा (concept of interest defined in terms of power) है। शक्ति के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रहित की महत्ता पर बल देने के कारण मार्गेन्थो का दृष्टिकोण यर्थावादी दृष्टिकोण बन जाता है। मार्गेन्थो के शब्दों में ''उनका सिद्धांत यथार्थवादी इसलिए होता है कि वह मानव स्वभाव को उसके यथार्थ में देखते हैं जो इतिहास में अनादि काल से बार-बार परिलक्षित होता है।''

2.6 मार्गेन्थो के राजनीतिक यथार्थवाद के छः सिद्धांत

मार्गेन्थो ने अपने यथार्थवादी सिद्धांत के छः सिद्धांतों का वर्णन किया है जिनको मिलाकर राजनीतिक यथार्थवाद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक पूर्ण सिद्धांत बनता है। इन छः सिद्धांतों का वर्णन अग्रलिखित है-

2.6.1 पहला सिद्धांत (First Principle)

(I) मानवीय स्वभाव के वस्तुनिष्ठ कानूनों पर आधारित राजनीतिक सिद्धांत- मार्गेन्थो राजनीतिक यथार्थवाद के पहले नियम में लिखते हैं कि ''राजनीति सामान्य समाज की तरह उस वस्तुनिष्ठ नियमों द्वारा संचालित होती है जिनकी जड़ें मानव के स्वभाव में हैं।'' इसलिए इन कानूनों को समझना तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए यथार्थवादी सिद्धांत को बनाना बड़ा आवश्यक है। ''यह कानून मानवीय अधिमानों के लिए दुर्भेद्य है। इसलिए न तो इन से इंकार किया जा सकता है तथा न ही इन्हें चुनौती दी जा सकती है।'' इनको आधार मानकर हम एक ऐसे युक्तिसंगत सिद्धांत का निर्माण कर सकते हैं जो इन कानूनों का पूर्ण एकतरफा प्रकटाव करता है। ऐसा ही एक सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के वास्तविक स्वरूप को समझने में हमारी सहायता कर सकता है।

(1) मानवीय संबंधों के तथ्य : मानवीय स्वभाव के वस्तुनिष्ठ कानूनों को जानने के लिए हमें मानवीय संबंधों के भूतकालीन तथ्यों का विश्लेषण करना होगा। मानवीय स्वभाव काफी एक जैसा रहता है इसलिए भूतकाल के इतिहास तथा कार्यो का पुनर्विचार वस्तुनिष्ठ कानूनों तथा आज के संबंधों का मूल्यांकन करने के लिए हमारा सहायक हो सकता है क्योंकि राजनीति के कानूनों का प्रमुख आधार मानव स्वभाव होता है और वह अधिक परिवर्तित नहीं होता। अत: राजनीतिक सिद्धांत का नया स्वरूप मानना सदा अच्छा नहीं होता और न ही पुराना जीवन काल एक बुराई होता है। राजनीतिक सिद्धांत एक जैसे ही रहते हैं तथा प्रत्येक समय पर इनका प्रयोग किया जा सकता है। मानव संबंधों के इतिहास का अवलोकन आनुभविक तथा तर्कसंगत होना चाहिए। दोहरा परीक्षण ही राजनीति का सच्चा सिद्धांत बनाने में हमारी सहायता कर सकता है।

(2) विवेकपूर्ण परिकल्पना : मार्गेन्थो 'शक्ति संतुलन' के सिद्धांत का उदाहरण देता है जिसका राजनीति तथा तर्क दोनों प्रकार से तथ्य समर्थन करते हैं। इसी तरह वे लिखते हैं ''विदेश नीति का स्वरूप केवल किये गए राजनीतिक कार्यों तथा इन कार्यों के संभावित परिणामों के परीक्षण से ही जांचा जा सकता है।'' इस तरह का एक परीक्षण तर्कसंगत युक्तियों के सहयोग से होता है जो केवल वही हमें विदेश नीति के वास्तविक स्वरूप को जानने में तथा राजनीति के सिद्धांत निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकता है। मार्गेन्थो के अनुसार ''वास्तविक तथ्यों तथा उनके परिणामों की तर्कसंगत परिकल्पना के आधार पर परीक्षण द्वारा ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्यों का अर्थ मिलता है तथा राजनीति का सिद्धांत निर्माण संभव हो पाता है।''

अत: मार्गेन्थो के यथार्थवाद के पहले सिद्धांत के अनुसार राजनीति कुछ ऐसे वस्तुनिष्ठ कानूनों के आधार पर चलती है जो मानव स्वभाव पर आधारित होते हैं इनका ज्ञान प्राप्त करके हम राजनीति का अध्ययन कर सकते हैं तथा इनका ज्ञान मावन संबंधों के इतिहास के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा करने से हम तथ्यों तथा तर्क पर आधारित एक राजनीतिक सिद्धांत की रचना कर सकते हैं।

2.6.2 दूसरा सिद्धांत

(II) राष्ट्रीय शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित– दूसरा सिद्धांत मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का केंद्र बिंदु है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का वर्णन करने के लिए 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' के अध्ययन की वकालत करता है। मार्गेन्थो के अपने ही शब्दों में ''शक्ति के रूप में परिभाषित हित, एक ऐसा मुख्य मील पत्थर है, जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की जमीन में से रास्ता ढूंढने के लिए राजनीतिक यथार्थवाद की सहायता करता है। यह धारणा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के कारण तथा समझने योग्य तथ्यों के मध्य संबंध स्थापित करती है।'' यह वह निश्चित सिद्धांत है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्तता प्रदान करता है और घरेलू राजनीति से इसके भेद को प्रकट करता है।

(1) राष्ट्रीय हित हमेशा राष्ट्रीय शक्ति द्वारा सुरक्षित किया जाता है (National Interest is always secured through the use of National Power) : राष्ट्र हमेशा शक्ति के साधन द्वारा ही राष्ट्रीय हित को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास भी इस विचार का पूर्णतया समर्थन करता है। कोई भी राष्ट्रीय हित जिसके पीछे शक्ति नहीं होती है केवल कागजों पर या कल्पना में ही अस्तित्व रखता है। शक्ति के रूप में हितों की परिभाषा देने तथा इसकी अवधारणा बनाने का केवल यही एक उचित रास्ता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रों ने हमेशा शक्ति के आधार पर कार्य किया है। विदेश नीति का निर्माण करने वाले हमेशा शक्ति को राजनीति का केंद्रीय तथ्य मानते हैं तथा इसी आधार पर नीति निर्माण करते हैं। राजनीतिक यथार्थवाद इस बात की कल्पना करता है कि ''राजनीतिक शक्ति के रूप में परिभाषित हितों के अनुरूप ही सोचते तथा कार्य करते हैं तथा इतिहास इस पूर्वकल्पना का साक्षी है। राजनीतिज्ञों ने कैसे कदम उठाये हैं तथा भविष्य में कौन से उठायेंगे इनका यथार्थ विश्लेषण करने के लिए यही सिद्धांत सहायता करता है।''

यह सिद्धांत राजनेताओं के व्यवहार के प्रति दो भ्रान्तियों से अपने आपको बचाए रखता है। (i) मंतव्यों से संबंध (The concern with motives), तथा (ii) वैचारिक वरीयताओं से संबंध (The concern with ideological preferences)

(क) मंतव्यों से कम सरोकार– यदि हम राजनीतिज्ञों के मंतव्यों को देखकर ही किसी देश की विदेश नीति को समझने का प्रयत्न करेंगे तो यह व्यर्थ होगा तथा हम धोखा खाएंगे। यह व्यर्थ इसलिए होगा क्योंकि मंतव्य हमेशा धोखा देते हैं तथा यह कर्त्ता एवं दर्शक की भावनाओं तथा व्यक्तिगत हितों से प्रभावित होते हैं। ये प्रायः समझ से परे होते हैं। इतिहास प्रयोजनों के गुण तथा विदेश नीति के गुणों से सही तथा आवश्यक सह–संबंध (Exact and Necessary Co-relation) स्थापित नहीं करता। बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब अच्छे मंतव्य प्रायः असफल तथा गलत नीतियों का जन्म देते रहे हैं। इस तरह राजनीतिक यथार्थवाद राजनेताओं के उद्देश्यों पर अधिक जोर नहीं देता। इसके विपरीत अपने–अपने राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों की प्राप्ति के संबंध में उनकी वास्तविक प्राप्तियों के आधार पर उनकी नीतियों तथा कार्यों को जांचना है।

(ख) विचारधारा के साथ कम सरोकार- राजनीतिक यथार्थवाद अपने को इस भ्रांति से दूर रखता है कि एक राजनेता की विदेश नीति, उसकी विचारधारात्मक अथवा दार्शनिक अथवा राजनीतिक झुकावों के अनुरूप होती है। अपने राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने के लिए किए गए कार्यों को ढांपने के लिए आदर्श विचार (ideology) एंक धुएं की चादर के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। किसी राष्ट्र के कार्यों को जांचने के लिए राजनीतिज्ञ की विचारधारात्मक वरीयताओं को आधार मानना हमें गुमराह कर देगा। सोवियत–चीन विरोध कोई वैचारिक विरोध नहीं था जैसा कि यह लगता था। इसके विपरीत यह दो साम्यवादी देशों के हितों का विरोध था। इसकी उत्पति न तो वैचारिक मतभेदों के कारण हुई थी तथा न ही माओ–खरुश्चेव के व्यक्तिगत विरोध के कारण। इसका कारण था विश्व राजनीति में इनके हितों में मतभेद। यही बात अमरीका तथा सोवियत संघ के मध्य घटित शीत युद्ध (cold war) पर भी लागू होती थी। यह मूल रूप से कुछ वैचारिक अभिव्यक्तियों में प्रकट हितों का टकराव भी थी।

(2) राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय शक्ति विदेश नीति के निर्धारत तत्व होते हैं- निस्संदेह राजनीतिज्ञ का व्यक्तित्व, उसके विचार तथा भाव विदेश नीति को अवश्य प्रभावित करते हैं लेकिन मुख्यतया किसी राष्ट्र की विदेश नीति शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हितों की धारणा पर ही आधारित होती है। विदेश नीति का तर्कसंगत सिद्धांत, एक ऐसा सिद्धांत पेश करता है जो अनुभव तथा वास्तविक तथ्यों पर आधारित होता है न कि मंतव्यों तथा वैचारिक वरीयतओं पर।

परंतु राजनीतिक यथार्थवादी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में राजनीतिक, मंतव्यों तथा नैतिक सिद्धांतों के पूरी तरह विरूद्ध नहीं है। यह सिद्धांत यह मानकर चलता है कि यह सब अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अपने सीमित भूमिका निभाते हैं। यह सिद्धांत ऐसा मानता है कि राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय शक्ति दोनों ही सभी प्रकार के निर्णयों तथा नीतियों के निर्धारक होते हैं। राजनीतिक यथार्थवाद का दृष्टिकोण एक फोटोग्राफर जैसा है, वह जो वास्तव में देखता है उसी का चित्र खींचता है न कि एक पेंटर का जो चीज की कल्पना करता है तथा फिर चित्र बनाता है।

(3) तार्किक विदेश नीति का पूर्ण समर्थन- राजनीतिज्ञ के मंतव्यों, दार्शनिक वरीयताओं तथा नैतिक मूल्यों से संबंध न होने का अर्थ यह नहीं कि राजनीतिक यथार्थवाद मानदंडों के मूल्यों की अवहेलना करता है। मार्गेन्थो के अनुसार ''राजनीतिक यथार्थवाद में न केवल सैद्धांतिक बल्कि दार्शनिक तत्व भी होते हैं। यह जानता है कि राजनीतिक वास्तविकता छुटपुट तथा व्यस्थित अविवेकों से भरी पड़ी है तथा विदेश नीति पर इनके विशेष प्रभाव भी हैं। यह सभी सामाजिक सिद्धांतों की तरह राजनीतिक वास्तविकता के तर्क संगत तत्वों पर जोर देने की आवश्यकता को मानता है क्योंकि यही तार्कित तत्व सिद्धान्त के लिए वास्तविकता को जानने योग्य बना देते है। राजनीतिज्ञ यथार्थवाद तार्किक विदेश नीति को ही अच्छी विदेश नीति मानता है, क्योंकि केवल ऐसी विदेश नीति ही खतरों को कम करती है तथा लाभों को अधिकतम करती है तथा इस तरह यह बुद्धिमानी के नैतिक नियमों तथा सफलता के लिए राजनीतिक आवश्यकताओं दोनों को पूरा करता है।''

मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का यह दूसरा नियम राजनीतिक यथार्थवाद का केंद्र बिंदु है। मार्गेन्थो के शब्दों में ''यह विद्यार्थियों पर बौद्धिक अनुशासन लागू करता है, राजनीति की विषय वस्तु में एक तार्किक क्रम पैदा करता है और इस तरह राजनीति के सिद्धांत को समझने को संभव बनाता है।''

2.6.3 तीसरा सिद्धांत (Third Principle)

(III) हित सदैव परिवर्तनीय है– राजनीतिक यथार्थवाद 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' की अवधारणा की सर्वमान्य वैधता में विश्वास रखता है। किसी भी राष्ट्र की नीतियां तथा कार्य सदैव राष्ट्रीय हितों द्वारा संचालित होते हैं। 'राष्ट्रीय हित' की धारणा राजनीति का सार है तथा यह समय और स्थान की परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती है। परंतु राष्ट्रीय हित का क्षेत्र अपने स्वरूप तथा क्षेत्र में सदैव परिवर्तनशील होता है। राष्ट्रीय हित परिवर्तनीय है तथा किसी राज्य की नीतियों तथा कार्यों का विश्लेषण करने के लिए इनका भी लगातार विश्लेषण होता रहना चाहिए। इतिहास के समय-विशेष में वह हित जो राजनीतिक कार्यों का निर्धारण करता है उसका आधार राजनीति तथा संस्कृति के वे प्रसंग होते हैं, जिनसे विदेश नीति का निर्माण होता है।

यही कथन शक्ति की अवधारणा पर भी लागू होता है। किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति हमेशा परिवर्तनीय होती है तथा राष्ट्रीय हित प्राप्त करने वाले वातावरण में परिवर्तन के साथ ही यह परिवर्तित हो जाती है। उदाहरण के लिए सुरक्षा तत्व भारत के राष्ट्रीय हित का मुख्य भाग रहा है। परन्तु जिस सुरक्षा को प्राप्त करने के लिए भारत लगातार प्रयत्नशील रहा है, वह सदैव बदलती रही है। इसी तरह भारत की राष्ट्रीय शक्ति भी पूर्णतया परिवर्तनीय रही है। 1962से पहले दूसरे देशों की नीतियों पर भारत का काफी प्रभाव था। चीन के आक्रमण का मुकाबला कर पाने की अयोग्यता के परिणामस्वरूप 1962 की करारी पराजय ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की शक्ति को बहुत कमजोर कर दिया। निःसंदेह फिर 1965 और 1971 के पाकिस्तान के विरूद्ध युद्ध के सफल तथा निर्भीक कार्यों के कारण भारत अपनी स्थिति को फिर से दृढ़ कर सका। 1974 का शांतिपूर्ण अणु धमाका तथा कृषि, औद्योगिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में उन्नति ने दूसरे के कार्यों को प्रभावित करने तथा अपने राष्ट्रीय हित के उद्देश्य को प्राप्त करने की भारत की योग्यता में वृद्धि की। गुट निरपेक्ष आंदोलन में सक्रिय तथा दृढ़ भूमिका तथा तीसरा दुनिया के नेतृत्व ने भी भारत की राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत की राष्ट्रीय शक्ति परिवर्तनीय है। यही स्थिति प्रत्येक राष्ट्र के हितों तथा शक्ति की होती है।

(III) (क) राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय शक्ति का लगातार मूल्यांकन– शक्ति के रूप में परिभाषित हितों, का अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का यथार्थ विश्लेषण करने के लिए समय-समय पर बार-बार विश्लेषण होना चाहिए। राजनीतिक यथार्थवाद का अर्थ है राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय हित के तत्वों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को समझना जिनसे अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का स्वरूप तथा क्षेत्र निर्धारित होता है।

2.6.4 चौथा सिद्धांत (Fourth Principle)

(IV) अमूर्त नैतिक नियम राजनीति पर लागू नहीं किये जा सकते– राजनीतिक यथार्थवाद नैतिक नियमों के महत्व को मानता है परंतु उसका यह दृढ़ विश्वास है कि अमूर्त तथा सर्वमान्य स्वरूप के रूप में उन्हें राजकार्यों पर लागू नहीं किया जा सकता।

राजनीतिक क्रिया का नैतिक महत्व सभी मानते हैं परंतु राज्य के कार्यों में नैतिक नियमों का प्रयोग तब तक नहीं किया जा सकता जब तक समय तथा स्थान और परिस्थिति को अपने सामने न रखा जाए। यथार्थवाद इस बात पर विश्वास करता है, राज्यों से आशा करनी चाहिए कि वे मनुष्य द्वारा माने गए नैतिक मानदंडों की तरह ही इन्हें मानेंगे। एक व्यक्ति अपने लिए कह सकता है कि, ''चाहे सारी दुनिया बरबाद हो जाये न्याय होना ही चाहिए'' परंतु राज्य को ऐसा कहने का कोई अधिकार नहीं। नैतिक नियमों को मानने के लिए कोई भी राज्य अपनी स्वतंत्रता या सुरक्षा या दूसरे मूल राष्ट्रीय हितों को बलिदान नहीं कर सकता। राजनीति, नीतिशास्त्र नहीं है तथा शासक नीतिज्ञ नहीं होते। किसी भी राज्य का पहला कार्य है शक्ति द्वारा राष्ट्रीय हितों की मांगों को सुरक्षा देना तथा उन्हें पूरा करना।

(IV) (क) बुद्धिमता ही मार्गदर्शक हो सकती है– तथापि इसका अर्थ यह नहीं कि राजनीतिक यथार्थवाद नैतिक मूल्यों से बिल्कुल विहीन है। यह राज्य कार्यों पर नैतिक मूल्यों के प्रभाव को मानता है और इसी कारण इनकी भूमिका तथा महत्व का भी मूल्यांकन तथा विश्लेषण करता है। परंतु ऐसा करने के लिए बुद्धिमता पर निर्भरता आवश्यक है। मार्गेन्थो लिखते हैं, ''बुद्धिमत्ता के बिना, यानी किसी कथित नैतिक कार्य के राजनीतिक परिणामों पर ध्यान दिये बिना, राजनीतिक नैतिकता नहीं हो सकती। यथार्थवाद बुद्धिमत्ता को–वैकल्पिक राजनीतिक कार्यों के परिणामों की तुलना करना–सबसे उत्तम गुण मानता है।''

यथार्थवाद यह भी मानता है कि सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों को उनके अमूर्त सार्वभौमिक रूप में राज्य कार्यों पर लागू नहीं किया जा सकता परंतु उन्हें समय तथा स्थान की मूर्त परिस्थितियों में से छान (filtered) कर ही राजकार्यों पर लागू किया जा सकता है तथा ऐसा ही किया जाना चाहिए।

2.6.5 पांचवां सिद्धांत (Fifth Principle)

(V) एक राष्ट्र की नैतिक आकांक्षाओं तथा सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों में अंतर होता है– राजनीतिक यथार्थवाद किसी विशेष राज्य की नैतिक आकांक्षाओं तथा सारी दुनिया पर लागू होने वाले नैतिक मूल्यों को एक समान मानने से इंकार करता है। वह यह भी मानने से इंकार करता है कि किसी राज्य के राष्ट्रीय हित या नीतियां, सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों का ही प्रतिबिम्ब होते हैं प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित को ऐसे ही सिद्धांतों की ओट में ढक लेता है। राष्ट्रीय नीतियों को नैतिक सिद्धांतों की अच्छी अभिव्यक्ति मानना न केवल भ्रामिक होता है बल्कि राजनीति के लिए घातक भी होता है।

(V) **(क) राष्ट्र सदैव राष्ट्रीय हितों को सुरक्षित करते हैं न कि नैतिक सिद्धांतों को**– राष्ट्र अपने–अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने में लगे कार्यकर्त्ता हैं न कि नैतिक कानूनों के अनुयायी। नैतिक नियम जो सारी दुनिया पर लागू हैं उनके कार्यों पर लागू नहीं होते। उनके कार्य हमेशा शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हितों पर आधारित होते हैं। इसलिए किसी भी राष्ट्र की नीति को सार्वभौमिक नैतिक सिद्धांतों के साथ नहीं मिलाना चाहिए। एक राष्ट्र नैतिक नियमों को मानता है तथा उन पर चलता है यह केवल दिखावा होता है, सच्चाई नहीं। किसी भी राष्ट्र की नीति के वास्तविक स्वरूप तथा विषय को समझने के लिए राष्ट्र के राष्ट्रीय हितों को समझना आवश्यक है न कि नैतिकता को।

2.6.6 छठा सिद्धांत (Sixth Principle)

(VI) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता– उपर्युक्त सभी सिद्धांतों के आधार पर मार्गेन्थो ने यह माना कि राजनीतिक यथार्थवाद तथा अन्य दृष्टिकोणों में वास्तविक और गंभीर अंतर है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि राजनीतिक मामलों में राजनीतिक यथार्थवाद के पास विशेष बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिकोण है। बौद्धिक रूप से राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता को कायम करता है। ''एक राजनीतिक यथार्थवादी हमेशा शक्ति के रूप में परिभाषित हितों के बारे में सोचता है: एक वकील, वैध नियमों से अपने कार्यों की पुष्टि करता है; तथा एक नीतिवान अपने कार्यों की नैतिक कानूनों द्वारा पुष्टि करता है।''

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए यथार्थवाद न तो आदर्शवादी न विधिवादी तथा न ही नीतिवाद दृष्टिकोण है। यह तो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हितों के साथ संबंधित है। उदाहरण के लिए अमरीका के राष्ट्र संघ के बाहर रहने के निर्णय के विधिवादी तथा नीतिवादी किसी भी पहलू से राजनीतिक यथार्थवाद का संबंध नहीं है। यह तो उन तत्वों से संबंध रखता है जिनके परिणामस्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका की ऐसी नीति बनी तथा इस नीति के क्या वास्तविक परिणाम निकले। यह अमरीका के राष्ट्रीय हितों के आधार पर उसकी विदेश नीति की व्याख्या करता है। यथार्थवाद राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष का अध्ययन करता है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति बनाये रखने तथा बढ़ाने का प्रयत्न करता है। इस तरह राजनीतिक यथार्थवाद 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' के एक

विशेष विषय वस्तु तथा दृष्टिकोण की स्वायत्तता की वकालत करता है। यह राजनीतिक कार्यों के लिए राजनीतिक मानदंडों तथा सभी अन्य मानदंडों की राजनीतिक मानदंडों के प्रति अधीनता को मानता है।

अंत में हम कह सकते हैं कि राजनीतिक यथार्थवाद, शक्ति के रूप में परिभाषित हितों का अध्ययन करने वाले विषय के रूप में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता की वकालत करता है। यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिए संघर्ष मानता है। शांति प्राप्त करने के प्रश्न पर मार्गेन्थो आपसी लेन-देन से शांति प्राप्ति (Peace through accommodation) के विचार की वकालत करता है। इसके लिए यह कूटनीति को सबसे आदर्श तथा प्रभावशली साधन मानता है। मार्गेन्थो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति के लिए राष्ट्रीय संघर्ष मानता है।

2.7 मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन

आलोचकों के अनुसार मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत की मुख्य त्रुटियां निम्नलिखित हैं:-

(1) न तो पूरी तरह आनुभविक तथा न ही तर्कसंगत- मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत का जब उस दोहरे परीक्षण के आधार पर परीक्षण किया जाता है जिसे स्वयं उसने सिद्धांत की सच्चाई तथा वैधता की कसौटी निर्धारित किया है तो यह न तो पूर्णतया आनुभविक सिद्ध होता है तथा न ही तर्कसंगत। इसका अनुभववाद अपरिपक्व तथा दिखावटी है तथा इसका तर्क एकांगी तथा पक्षपातपूर्ण है। यह कई ऐसे सामान्यीकरणों की परिकल्पना करता है जैसे राष्ट्र मनुष्यों की तरह ही हमेशा दूसरों पर शक्ति तथा प्रभुत्व पाना चाहता है, जिनकी वैधता को जांचा नहीं जा सकता तथा जिनका कभी परीक्षण नहीं हो सकता। वह कभी भी पूर्णतया आनुभविक होने का प्रयत्न नहीं करता। इसका तर्क भी सीमित है। यह मानना कि नीति पूर्णतया युक्ति संगत होनी चाहिए बिल्कुल असंगत है। कोई भी एक युक्तिसंगत सिद्धांत की आवश्यकता से इंकार नहीं करता लेकिन कोई भी नीति-निर्माण के अविवेकी तत्वों की भूमिका की उपेक्षा नहीं कर सकता।

(2) पक्षपाती दृष्टिकोण- राजनीति का केवल हितों के विरोध द्वारा पैदा किए गये शक्ति के लिए संघर्ष के रूप में परिभाषित करना, हितों के विरोध को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केवलमात्र निर्धारक तत्व बना देना है। यह पक्षपातपूर्ण तथा एकांगी दृष्टिकोण है। बाकी सामाजिक संबंधों की तरह विरोध तथा सहयोग दोनों अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की विशेषताएं हैं। राष्ट्रों के मध्य सहयोग का तत्व भी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का महत्वपूर्ण तत्व है जो न तो उपेक्षित हो सकता है न किया जाना चाहिए। स्टेनले हॉफमैन का विचार है कि मार्गेन्थो उद्देश्यों पर बहस की उपेक्षा करता है। क्विंसी राइट भी इसमें राष्ट्रीय नीति के निर्माण के मूल्यों की भूमिका की चर्चा के न होने पर आपत्ति करता है। रेमण्ड एरॉन इस सिद्धांत पर आपत्ति करते हैं क्योंकि यह विचारधाराओं तथा नीतियों के संबंधों की उपेक्षा करता है।

(3) अवैज्ञानिक- बहुत से आलोचक मार्गेन्थो के सिद्धांत को अवैज्ञानिक कहते हैं क्योंकि इसकी जड़े मानव स्वभाव में है। मानवीय स्वभाव की कोई भी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकती। मानवीय स्वभाव के बारे में उसके विचारों पर हॉबस तथा मैक्यावली के विचारों का प्रभाव दिखाई देता है तथा यह कोई वैज्ञानिक व्याख्या नहीं है। वासरमैन ने तो विशेषतया यथार्थवादी सिद्धांत की इस कमजोरी की आलोचना की है। यह कहना कि मानवीय स्वभाव स्थिर है, पूर्णतया अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। मानव बदल गया है तथा उसे बदलना ही होगा चाहे घड़ी की सूईयों की तरह बहुत धीरे-धीरे। आज का सभ्य मानव पुराने युग के बर्बर मानव से बहुत भिन्न है। आज वह शांति, सहयोग तथा व्यवस्था से ज्यादा संबंधित है न कि संघर्ष, विरोध तथा युद्ध से।

(4) शक्ति एकलवाद- इस सिद्धांत के विरूद्ध आलोचना का एक अन्य वैध तर्क यह है कि यह सिद्धांत केवलमात्र एक अकेले तत्व 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' को अनावश्यक तथा पूर्ण महत्व देता है। राष्ट्रीय हित तथा राष्ट्रीय शक्ति दोनों अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्वपूर्ण तत्व हैं परंतु केवल इन्हें ही निर्धारक मान लेना, इन दोनों तत्वों के प्रति बहुत असंगत प्रकार का प्यार है। राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष के रूप में मार्गेन्थो की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की व्याख्या बहुत अपर्याप्त है क्योंकि यह राष्ट्रों के मध्य संबंधों की प्रक्रिया की वास्तविकताओं को

प्रतिबिम्बित नहीं करती। यहां तक कि शक्ति का विश्लेषण तथा मूल्यांकन भी शक्ति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के परीक्षण से ही हो सकता है। इसलिए मार्गेन्थो को शक्ति के अलावा भी किसी तत्व को महत्व देना चाहिए था। उसका शक्ति को सभी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का केंद्र समझना ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक समझ के लिए अवास्तविक, अस्वीकार्य तथा अव्यावहारिक शक्ति एकलवाद है।

(5) राष्ट्रीय शक्ति तथा राष्ट्रीय हित के मूल्यांकन में कठिनाई- अगर हम 'शक्ति' के रूप में परिभाषित हित के सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने का आधार मान लें तो हमारा रास्ता कठिनाइयों से भरा नजर आएगा। किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति का अध्ययन करना बड़ा मुश्किल काम है तथा कोई भी आनुभविक या सैद्धांतिक अध्ययन किसी भी राष्ट्र की शक्ति का पूर्ण रूप से मूल्यांकन करने के योग्य नहीं हो सकता। इससे भी अधिक कठिन काम विभिन्न राष्ट्रों की साक्षेप शक्ति (Relative Power) का विश्लेषण करना है। राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों की भूमिका तथा महत्व तथा इसके तीन मुख्य आयामों, आर्थिक, शक्ति, सैनिक शक्ति तथा मनोवैज्ञानिक शक्ति को जांचने के लिए कोई मापदंड नहीं है।

इसी तरह तथ्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के हितों का विश्लेषण करना भी बहुत कठिन है। उदाहरण के लिए 'सुरक्षा' सभी राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित का मुख्य भाग है। लेकिन कोई राष्ट्र कितनी सुरक्षा को आवश्यक समझता है इसकी सीमा तथा स्वरूप का विश्लेषण तथा वर्णन पूरी तरह नहीं हो सकता। अणु शस्त्रों से अणु विहीन देशों की सुरक्षा को खतरा, वास्तविकता भी है तथा भय-मनोविज्ञान का भाग भी। यह वास्तविकता इसलिए है क्योंकि यह शस्त्र बहुत ही विध्वंसकारी हैं तथा कुछ देशों का ऐसी युद्ध तकनीक पर एकाधिकार है। दूसरी ओर अणु शस्त्रों के कारण शांति और सुदृढ़ हो गई है क्योंकि यह युद्ध न करने की प्रेरक शक्ति भी सिद्ध हुई है। इस तरह इनका अस्तित्व अप्रत्यक्ष रूप से एक वरदान भी बना है। इस तरह अणुरहित राष्ट्रों की सुरक्षा को किस सीमा तक खतरा है इसका अनुमान लगाना मुश्किल है तथा उनके राष्ट्रीय हितों का अनुमान लगाना भी मुश्किल है। इससे भी अधिक, मार्गेन्थो ने स्वयं राष्ट्रीय हितों के परिवर्तनशील स्वरूप को माना है। इस विशेषता के कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रों द्वारा बनाए रखे जाने वाले तथा सुरक्षित रखे जाने वाले हितों के स्वरूप का मूल्यांकन करना और भी मुश्किल हो जाता है। इस तरह राष्ट्रीय हितों तथा राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन करने में आने वाली कठिनाइयों के कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के यथार्थवादी सिद्धांत को अपनाना व्यवहारिक रूप से कठिन तथा समस्याजनक है।

(6) युद्ध का एवं विस्तारवाद का समर्थन- मार्गेन्थो शक्ति के लिए संघर्ष को अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक की प्राकृतिक तथा दृढ़ वास्तविकता मानता है। उसका दावा है कि साधारण मानवों की भांति राष्ट्रों के लिए भी यह प्राकृतिक है कि वे शक्ति के संघर्ष द्वारा दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करें। इस शक्ति केलिए संघर्ष का उग्र स्वरूप युद्ध ही है। अगर हम शक्ति संघर्ष को प्राकृतिक मान लें तो इन युद्ध को प्राकृतिक तथा न्यायसंगत मानने से इंकार नहीं कर सकते। मार्गेन्थो का घोषणा पत्र "Nations seek power and they should seek powers" युद्ध को न्यायसंगत बना देता है। अगर युद्ध को नहीं, तो भी यह विस्तारवाद की नीति को न्यायसंगत बना देता है।

(7) नैतिकता के महत्व की उपेक्षा- यथार्थवादी सिद्धांत के चौथे तथा पांचवें सिद्धांत में मार्गेन्थो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भूमिका की बात करता है। यहां वह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नैतिकता के वांछित महत्व से इंकार करता है। वह कहता है कि कोई भी राष्ट्र अपनी नीतियों का आधार नैतिकता को नहीं बनाता और ऐसा बनाना भी नहीं चाहिए। नैतिक सिद्धांतों पर निर्भरता नीतियों को अव्यवहारिक एवं आदर्शवादी बना देती है। दर्शनशास्त्रीय विचारधाराएं नीतियों के तत्वों के रूप में काम करती हैं तथा उनको लागू करने की प्रक्रिया को प्रभावित भी करती है। मार्गेन्थो का मत खतरनाक भी है क्योंकि यह नैतिकता-विहीन शक्ति के लिए संघर्ष राजनीति को और भी खतरनाक बना देता है। इसकी स्वीकृति अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शांति तथा मैत्री के अवसरों को भी कम कर देगी।

(8) राष्ट्रीय हित को नैतिकता से श्रेष्ठ बतलाना गलत है- मार्गेन्थो का राष्ट्रों द्वारा मानी जाने वाली नैतिकता के रूप में राष्ट्रीय हितों को उच्चतम स्थान देना ही गलत है। 'प्रत्येक राष्ट्र अपने हितों के लिए कार्य करता है तथा उसे करना ही चाहिए' इस कथन का युक्तिसंगत अर्थ यही निकलता है कि राष्ट्र द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य नैतिक होता है। यह निश्चय ही एक ऐसा प्रकरण (case) है जो अनैतिकता को भी नैतिकता का एक अंश बना देगा। मार्गेन्थो के 'गैर-नैतिकता के समर्थन में अनैतिकता शामिल है'

(9) केवल बुद्धिमत्ता मार्गदर्शक नहीं हो सकती- मार्गेन्थो का बुद्धिमत्ता को नीति निर्माण तथा इसमें लागू करने की प्रक्रिया में मार्गदर्शक मानना दोषपूर्ण है। हर प्रकार की स्थिति में विवेकशील होना कठिन है। समय भी विवेक का निर्धारक होता हे। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में हम विवेक को व्यवहारिक एवं दक्ष मार्गदर्शक नहीं मान सकते। 1945 के बाद के समय में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की जटिलताओं ने नीतियों में विवेक के क्षेत्र को और भी सीमित किए रखा है।

(10) यह सिद्वांत यथार्थवादी नहीं है- बहुत से आलोचक जैसे राबर्ट टक्कर तथा कैन्निथ वाल्टज, मार्गेन्थो के सिद्वांत को वास्तविक यथार्थवादी सिद्धांत भी नहीं मानते। देखने में तो यह यथार्थवादी है परंतु वास्तव में यह आदर्शवादी है। मार्गेन्थो आदर्शवाद तथा यथार्थवाद को मिलाने के दोषी हैं। वे कहते हैं कि सभी राज्य शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तथा सभी को ऐसा करना भी चाहिए। ''एक राष्ट्र हमेशा अपने राष्ट्रीय हितों को बनाए रखना तथा सुरक्षित रखना चाहता है और यही उसे करना भी चाहिए।'' क्या इसका अर्थ यह है कि जो एक राष्ट्र कर रहा उसे वही करते जाना चाहिए? एक विशेष रूप में मानवीय स्वभाव को परिभाषित करना, फिर उसे ही तर्कों का आधार मानने के लिए कहना, वास्तव में आदर्शवाद है न कि यथार्थवाद। उसके यथार्थवाद में ही आदर्शवाद के बीज हैं। टकर तथा वाल्टज दोनों मार्गेन्थो द्वारा 'चाहिए'(should) तथा 'जो हैं' (What is) शब्दों के एक साथ प्रयोग के विरूद्ध है। 'इस सिद्धांत में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का बड़ा अनैतिक तथा बेतुका मेल है।''

(11) विश्व के प्रति अवास्तविक विचार- मार्गेन्थो का विश्व को एक स्थिर क्षेत्र मानना जिसमें शक्ति संबंध अपने आपको समय रहित एकरसता प्रतिपादित करते हैं बड़ा अवास्तविक है। यह विश्व तथा विश्व राजनीति के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करने में असफल है।

(12) मार्गेन्थो की शक्ति की अवधारणा की आलोचना- मार्गेन्थो द्वारा शक्ति को दूसरों के मस्तिष्कों तथा कार्यों का नियंत्रण करने की योग्यता के रूप में वर्णन करना, अपर्याप्त एवं अस्पष्ट है। इस तरह की परिभाषा हर तरह के संबंधों को राजनीति संबंध तथा हर प्रकार के कार्य को राजनीति कार्य बना देती है। राष्ट्रों के बीच सभी प्रकार के संबंधों को शक्ति संबंधों के रूप में वर्णन करने का अर्थ है इन्हें राजनीतिक संबंध मानना। यह मत अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के स्वरूप तथा क्षेत्र का कुछ अधिक ही साधारण एवं सामान्य विचार प्रस्तुत करता है।

(13) विचारों में असंगति- मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत की असंगतियों का डा. महेंद्र कुमार विस्तृत विश्लेषण करते है। वे कहते हैं कि मार्गेन्थो शक्ति संघर्ष, विरोध, झगड़ों तथा मनमुटाव को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्राकृतिक अंश मानता है। इस प्रकार की मान्यता उसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को शक्ति का कभी न समाप्त होने वाला संघर्ष मानने के लिए बाध्य कर देती है जिसमें तर्कसंगत विदेश नीतियों का टकराव शामिल हो जाता है। परंतु इसके साथ ही वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शांति तथा समन्वय को बनाए रखने की संभावना तथा वांछिता को भी मानते हैं। वे सामंजस्य द्वारा शांति स्थापना के लिए आशांवित है तथा कूटनीति द्वारा सामंजस्य चाहते हैं। इसी से मार्गेन्थो के विचारों की असंगतियों का पता चलता है। वे मानवीय स्वभाव का निराशावादी तथा निर्धारणात्मक विचार लेते हैं लेकिन इन विचारों का कोई तर्कसंगत निष्कर्ष निकालने में वे कुछ हिचकिचाते है। या यूं कहिये कि असफल रहते हैं। उनका विश्लेषण युद्ध तथा शक्ति के लिए संघर्ष को न्यायसंगत मानता है परंतु इसके साथ ही वे अच्छी कूटनीति तथा राजनीति सत्ता द्वारा शांति स्थापना की वकालत भी करता है।

(14) स्वायत्तता की परिभाषा में अस्पष्टता- राजनीति यथार्थवाद के छठे सिद्वांत में मार्गेन्थो एक अध्ययन विषय के रूप में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत विषय मानने की जोरदार वकालत करना है। परंतु उनके स्वायत्तता के विचार में स्पष्टता की कमी है। वे भिन्न-भिन्न समय पर स्वायत्तता की भिन्न-भिन्न धारणाओं का प्रयोग करते हैं। यथार्थवादी सिद्वांत के दूसरे सिद्वांत के प्रसंग में वह असीमित क्षेत्र में सीमित परिवर्तनशील तत्वों के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता की वकालत करता है। वह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को 'शक्ति के रूप में परिभाषित हितों' के अध्ययन से संबंधित स्वायत्त विषय मानता है। हालांकि दूसरे सिद्वांतों (तीसरा, चौथा तथा पांचवां) में मार्गेन्थो स्वायत्तता का एक अलग ही विचार लेता है। यहां वह इसकी अवधारणा को विशेष चुने हुए क्षेत्रों में सभी परिवर्तनशील तत्वों के अध्ययन के रूप में लेता है। इस तरह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए जिस स्वायत्तता की वह वकालत करता है उसके लिए वह आज भी अधिक स्पष्ट नहीं है।

इस तरह यथार्थवादी सिद्धांत की अपनी कई सीमाएं हैं तथा इनके कारण यह राष्ट्रों के व्यवहार का पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता। यह तो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ तत्वों की आंशिक व्याख्या करता है। यह पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय सच्चाई की पूर्ण व्याख्या नहीं करता। यह अधिक से अधिक राष्ट्रों के शक्ति संबंधों को समझने तथा इनकी व्याख्या करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। यह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का पूर्ण वर्णन करने में असफल है। मॉरगेन्थो का यथार्थवादी सिद्धांत इस बात की कोई परवाह नहीं करता कि एक तथ्य या वास्तविकता के विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न अर्थ हो सकते हैं। यदि मार्गेन्थो का सिद्धांत ठीक मान लिया जाए तो इसका मतलब होगा कि किसी राज्य का कोई भी कार्य अनैतिक नहीं माना जा सकता। संक्षेप में मार्गेन्थो का यथार्थवादी सिद्धांत शक्ति के अतिरिक्त अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्य किसी भी पक्ष की व्याख्या नहीं करता, इसलिए उसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य सिद्धांत (General Theory) के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

2.8 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में मार्गेन्थाऊ का योगदान

मार्गेन्थाऊ के सिद्धांत में अनेक कमियां हैं तथापि उनके यथार्थवादी सिद्धांत का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक अध्ययन के विकास में कुछ न कुछ योगदान अवश्य रहा है। हमारे सामने विचारणीय प्रश्न है कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक अध्ययन की परंपरा में मॉरगेन्थाऊ का क्या कथन है ? कुछ विद्वान उन्हें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सर्वश्रेष्ठ सिद्धांतकार मानते हैं तो अन्य आलोचक उन्हें पूर्ण ग्रहों से ग्रसित सिद्धान्त मानते हैं। क्विन्सी राइट ने उनके सिद्वांत को अपूर्ण माना है, क्योंकि उसमें राष्ट्रीय नीति पर प्रभाव डालने वाले तत्वों की कोई चर्चा नहीं की गई है। रेमों आरों के अनुसार मॉरगेन्थाऊ का सिद्धांत अधूरा है क्योंकि उसमें राष्ट्रीय नीति और विचारधारा के पारस्परिक संबंध को विस्मृत कर दिया गया है।

जब हम अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की सैद्धांति पृष्ठभूमि (Theoretical Framework) की खोज करते हैं, तो मॉरेगेन्थाऊ के योगदान को नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने यथार्थवाद को एक स्वरूप और दिशा प्रदान की है। राजनीतिक यथार्थवाद उनके हाथों में पहुंचकर विशिष्ट दर्शन के रूप में अंतर्राष्ट्रीय गगन में चमक उठा है। उनका सिद्धांत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के संचालित होने का एक तर्कसंगत विश्वसनीय आधार प्रस्तुत करता है। 'सत्ता ही से स्वार्थ सिद्धि'- यह मानो वह कुंजी है जिससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के समस्त बंद कपाट खुल जाते हैं। मॉरगेन्थाऊ ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सैद्धांतिक अध्ययन की परंपरा स्थापित की। केनेथ वाल्ट्ज के शब्दों में ''मॉरगेन्थाऊ से हमें अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई सुनिश्चित सिद्वांत चाहे न मिलता हो पर उससे सिद्धांत रचना के लिए पर्याप्त सामग्री अवश्य मिलती है।'' थॉम्पसन ने लिखा है ''मॉरगेन्थाऊ विश्व की राजनीति पर लिखने वाले समकालीन लेखकों में सबसे बड़ा है और उसे इस युग का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत का निर्माण करने वाला प्रमुखतम विचारक मानना चाहिए''। उसका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले आदर्शवाद के वाग्जाल में उलझी हुई अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को यथार्थवाद का सुदृढ़ सैद्धांतिक आधार प्रदान किया। यथार्थवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले

इधर-उधर बिखरे हुए विचारों को श्रृखंलाबद्ध करके मॉरगेन्थाऊ ने उन्हें एक वैज्ञानिक सिद्धांत के धरातल पर बैठा दिया। अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार का मानव स्वभाव से रिश्ता जोड़कर उन्होंने यथार्थवाद को एक ठोस दार्शनिक आधार प्रदान किया। मॉरगेन्थाऊ की मान्यताओं से हम भले ही सहमत न हों पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति के महत्व को उजागर करके उन्होंने हमें अध्ययन और अनुसंधान का एक ऐसा ढंग सिखाया जिससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल की सस्याओं को देखा जा सके।

2.9 स्वयं जांच प्रश्न (प्रश्नों के उत्तर के लिए 2.12 देखें)

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में आदर्शवादी दृष्टिकोण का सम्बन्ध किससे हैं?
2. यथार्थवादी दृष्टिकोण का मुख्य समर्थक कौन है?
3. मार्गेन्थो किस दृष्टिकोण का समर्थक है?

2.10 सारांश

संक्षेप में, नि:संदेह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धांत के रूप में यह अपर्याप्त तथा कमजोर सिद्धांत है फिर भी यह कहना ही होगा कि इससे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को प्रोत्साहन मिला है। यह एक पूर्ण सिद्धांत तो नहीं है परंतु इसने निश्चत ही सिद्धांत निर्माण के लिए बहुमूल्य सामग्री प्रदान की है। इसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को आदर्शवाद से बदल कर विज्ञानवाद की ओर ले जाने में एक प्रमुख साधन का काम किया है। इसने बदलते हुए समय में, जब आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था परंपरावादी व्यवस्था की जगह ले रही थी, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का अध्ययन करने में हमारी सहायता की। मार्गेन्थो को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में ऐसे अनुसंधान तथा अध्ययन को लोकप्रिय बनाने का श्रेय मिलना ही चाहिए जिसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत्त विषय के रूप में अपनी पहचान कायम करने में सहायता दी है। अध्ययन के एक विषय के रूप में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक लोकप्रिय और स्वायत्ततापूर्ण बनाने में मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत ने एक विकासवादी भूमिका निभाई है।

2.11 शब्दावली

यथार्थवाद - जो बात या पदार्थ वस्तुत: जिस रूप में हो उसी रूप में मानना या ग्रहण करना।

संघर्ष - दो पक्षों या दलों में होने वाला वह विरोध जिसमें दोनों एक-दूसरे को दबाने का प्रयत्न करते हैं।

राष्ट्रीय - राष्ट्र सम्बन्धी या राष्ट्र की एकता, महत्ता, विशेषताओं आदि से सम्बन्ध रखने वाला।

2.12 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर

1. क्या होना चाहिए (What ought to be)
2. हैन्स जे. मार्गेन्थो
3. यथार्थवादी

2.13 ग्रन्थ सूची

- वी. एन खन्ना, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: विकास पाब्लिशिंग हाऊस, 1999).
- मथुरालाल शर्मा, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: कॉलेज बुक डिपो).
- प्रभुदत्त शर्मा, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति** (जयपुर: कॉलेज बुक डिपो).
- हेरल्ड स्प्राऊट तथा मार्गरेट स्प्राउट, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्व** (लखनऊ: हिन्दी ग्रन्थ एकेडमी).
- एस. वाधक, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आधार** (न्यू दिल्ली: अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस).

- यू.आर.घई, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीतिः सिद्धान्त एवं व्यवहार,** (जालन्धरः न्यू एकडोमिक पब्लिशिंग कम्पनी, 2000).
- आर. जेक्सन, जी. सोरेनसन, **Introduction to international Relations: Theories and Approaches** (New York: Oxfor University Press, 2001).

2.14 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

(1) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी दृष्टिकोण से आप क्या समझते हैं, व्याख्या करो।

(2) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से संबंधित हन्स जे. मार्गेन्थो के यथार्थवादी सिद्धांत की चर्चा करें।

(3) मार्गेन्थो के उन छः सिद्धांतों का परीक्षण कीजिए, जिनमें राजनीतिक यथार्थवाद का वर्णन किया गया है?

(4) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिए यथार्थवादी दृष्टिकोण की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(5) मार्गेन्थो के यथार्थवाद के छः सिद्धांतों का आलोचनात्मक परीक्षण करें।

(6) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में मार्गेन्थो के सिद्धांत का क्या योगदान रहा है? वर्णन करो।

*****

अध्याय-3
निर्भरता एवं विश्व व्यवस्था सिद्धांत

संरचना

3.0 भूमिका

3.1 अधिगम उद्देश्य

3.2 निर्भरता सिद्धांत

3.3 निर्भरता सिद्धांत के विकास का इतिहास

3.4 एंड्रि गुडंर फ्रैंक के निर्भरता सबंधी विचार

3.5 निर्भरतावादी इमैनुअल वॉलरस्टीन का विश्व व्यवस्था सिद्धांत

3.5.1 केन्द्र व परिधि वाले राष्ट्रों की विशेषताएं

3.6 निर्भरता के सिद्धांत की विशेषताएं

3.7 निर्भरता सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन

3.8 निर्भरता सिद्धांत की उपयोगिता

3.9 स्वयं जांच प्रश्न

3.10 सारांश

3.11 शब्दावली

3.12 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर

3.13 ग्रन्थ सूची

3.14 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

3.0 भूमिका :

वैश्विक प्रणाली सिद्धांत विश्व इतिहास एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने का एक तंत्र सिद्धांत है। इसका मानना है कि सामाजिक अध्ययन के लिए पूरे विश्व की मूल इकाई माना जानी चाहिए न कि देशों व राज्यो को। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में निर्भरता का सिद्धांत यह है कि संसाधन निर्चन एवं अल्पविकसित देशों (Periphery/परिधि) से धनी देशों (core/केंद्र) की ओर प्रवाहित होते हैं और निर्धन देशों को और गरीब करते हुए धनी देशों को और धनी बनाते हैं। निर्भरता का सिद्धांत इस मूल मान्यता पर आधारित है कि राजनीतिक एवं आर्थिक कारकों के बीच एक गहन संबंध होता है। ये दोनों कारक परस्पर प्रभावित करते हैं तथा काफी हद तक आर्थिक कारकों के आधार पर राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव देखने को मिलते हैं। निर्भरता का सिद्धांत मूल रूप से मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है। मार्क्सवाद के साथ-साथ हॉब्सन व लेनिन के साम्राज्यवाद की अवधारणा ने इसे और मजबूत बना दिया है। परंतु चूंकि मार्क्सवादी 'राज्य' के अस्तित्व को नहीं मानते इसलिए इसे 'नव-मार्क्सवादी' अवधारणा मानना ज्यादा तर्कसंगत होगा। वैसे तो यह अवधारणा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में 1950 के दशक से विद्यमान है, परंतु 1970 के दशक से ज्यादा महत्वपूर्ण बन गई है। इस काल के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु राजनीतिक, आर्थिक तत्वों में संबंध पर अधिक से अधिक बल दिया जाने लगा है। इस सिद्धांत के मुख्य समर्थकों में पॉल स्वीजी, हेरी मैडमॉफ, पॉल बरान, एंड्रि गुंडर फ्रैंक, इमेनुअल वॉलरस्टेन आदि प्रमुख हैं। ये सभी विचारक इस बात पर सहमत हैं कि तीसरे विश्व के देशों का निम्न

स्तरीय विकास इनके नव उपनिवेशीय अस्तित्व अर्थात इनकी विकसित देशों पर निर्भरता 'ब्राह्य निर्भरता' की स्थिति के साथ प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। इस अध्याय में इमैनुअल वॉलस्टीन के विश्व व्यवस्था सिद्धांत तथा एंड्रि गुडंर फ्रैंक के सिद्धांत का अध्ययन किया गया है।

3.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात छात्र मुख्य रूप से:-

- बॉलरस्टीन के विश्व व्यवस्था सिद्धान्त को जान सकेगें।
- निर्भरता सिद्धांत क्या है और इसका विकास कैसे हुआ को समझ संकेगे।
- निर्भरता सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।
- निर्भरता सिद्धांत की उपयोगिता को समझने में सक्षम होंगे।

3.2 निर्भरता सिद्धांत

वर्तमान समय में राष्ट्रीय राज्यों के मध्य विद्यमान असमान सम्बन्धों के आधार पर निर्भरता सिद्धान्त राजनीति का विश्लेषण करने का प्रयास करता है। वह तीसरी दुनिया के संबंध में राजनीति का विश्लेषण करने वाले संरचनात्मक, कार्यात्मक सिद्धांत तथा पारस्परिक मार्क्सवादी सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता। वास्तव में, निर्भरता सिद्धांत की उत्पति मार्क्सवादी तथा पश्चिमी विद्वानों द्वारा उचित तथा समर्थित आधुनिकीकरण तथा विकास सिद्धांतों के विकल्प के रूप में हुई। अत: स्वाभाविक रूप में यह सिद्धांत मार्क्सवादी तथा पश्चिमी सिद्धांतों की न आलोचना करता है, न ही उन्हें रद्द करता है। खास करके निर्भरता सिद्धांत विकास का निरंतरता सिद्धांत (Continuum Theory) तथा प्रसारण सिद्धांत (Diffusion Theory) जो कम-विकास (Underdevelopment) को विकास का एक निम्न स्तर अर्थात अस्थायी तथा बदलने वाला स्तर (Transitory State) मानते हैं; जिन्हें विकसित देशों का समर्थन प्राप्त है; तथा जो विकसित राज्यों द्वारा अत्यंत निम्न रूप से विकसित राज्यों को दी जाने वाली विदेशी सहायता तथा निवेश की सकारात्मक तथा महत्वपूर्ण भूमिका को सराहते हैं; को स्वीकार करने से इंकार करता है। निर्भरता सिद्धांत यूरो-केंद्रीय झुकाव तथा साम्राज्यवाद एवं आधुनिकीकरण के सीमित स्वभाव को रद्द करने के साथ-साथ तीसरे विश्व के राज्यों में विद्यमान निम्न स्तर के विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण करके राजनीति के अध्ययन के लिए वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

निर्भरता सिद्धांत का आरंभ एक देश की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक संरचनाओं पर उपनिवेश-प्रभाव के अध्ययन से होता है। फिर यह नई सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं का विश्लेषण करता है। अंतिम स्तर पर यह विश्व पूंजीवादी व्यवस्था में इनके विकास का अध्ययन आंतरिक परिवर्तनों तथा घटनाओं के संदर्भ में करता है। इस तरह यह इतिहास की पूर्ण व्याख्या करता है।

दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि निर्भरता सिद्धांत निम्न स्तर के विकसित (Underdevelopment) देशों के आंतरिक परिवर्तनों का विश्लेषण करता है तथा उनके निम्न स्तरीय विकास की उनकी विश्व आर्थिक व्यवस्था में स्थिति के संदर्भ में व्याख्या करता है। यह आंतरिक तथा बाह्य संरचनाओं के संबंधों की व्याख्या भी करता है। निर्भरता सिद्धांतवादी तीसरी दुनिया के देशों (विश्व के गरीब तथा आर्थिक रूप से निर्भर देशों) के निम्न स्तरीय विकास की स्थिति की व्याख्या उस सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक प्रक्रिया के संदर्भ में करते हैं जोकि इन देशों को विकसित देशों के साथ जोड़ती है। ये निम्न स्तर के विकसित देशों को परिधियां (Peripheries) तथा विकसित देशों को केंद्र (Centres) कहते हैं। वे यह मानते हैं कि परिधि में सामाजिक-प्रक्रिया के स्वरूप का विश्लेषण विश्व पूंजीवादी व्यवस्था, जिस पर विकसित देशों (केंद्रों) का प्रभुत्व है, के विश्लेषण के आधार पर ही किया जा सकता है। निर्भरता सिद्धांत का केंद्रीय बिंदु यह है कि तीसरे विश्व के राज्यों की सामाजिक-प्रक्रियाओं की प्रकृति का

निर्धारण निम्न स्तरीय विकास की प्रक्रिया, जो विश्व स्तर पर पूंजीवादी विस्तार का एक परिणाम है, द्वारा होता है। निम्न स्तरीय विकास की प्रक्रिया इन देशों की बाहरी निर्भरता के साथ अभिन्न तथा प्रगाढ़ रूप से संबंधित होती है। वास्तव में, सभी निर्भरता सिद्धांतकार साधारण रूप में यह स्वीकार करते हैं कि निम्न स्तरीय विकास सदैव बाहरी निर्भरता से पैदा होता है। विकसित देशों के विकास का स्तर तथा निम्न स्तर के विकसित देशों के निम्न विकास का स्तर दो असंबधित प्रक्रियाएं नहीं है बल्कि ये दोनों पूंजीवादी विस्तार के कारण उत्पन्न परस्पर संबंधित उपजें अथवा परिणाम हैं।

''निर्भरता सिद्धांत एक वृहद् ऐतिहासिक एवं संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है तथा यह विकास तथा निम्न स्तरीय विकास की निरंतरता एवं मार्क्सवादी सिद्धांतों को अस्वीकार करता है।'' यह निम्न स्तरीय विकास को पूंजीवादी विस्तार की उपज के रूप में परिभाषित करता है क्योंकि यह मानता है कि पूंजीवादी विस्तार से असमान विनिमय (Unequal exchange) उत्पन्न होता है तथा जिसमें केंद्र (Centre or Cores of Metropolis) अपने लाभ हेतु परिधियों के स्त्रोतों तथा श्रम का शोषण करता है। परिधि निर्भरता की स्थिति में जीवित रहती है तथा निम्न स्तरीय विकास इसकी विशेषता बना रहता है।

निर्भरता से अभिप्राय है कि जैसा कि डॉस सांतोस कहता है, ''ऐसी स्थिति जिसमें कुछ देशों की अर्थ व्यवस्था उन देशों की अर्थ-व्यवस्था के विकास तथा विस्तार द्वारा संचालित तथा संकुचित होती है जिन पर ऐसे देश निर्भर करते हैं अथवा जिनके प्रभाव में होते हैं। दो या दो से अधिक देशों की अंतर्निर्भरता तथा इनकी विश्व व्यापार का अंर्तनिर्भरता के साथ संबंध उस समय निभ्ररता का स्वरूप ले लेते हैं जब कुछ देश (जो प्रभुत्व रखते हैं) स्वयं विस्तार कर सकते हैं तथा स्वयं विस्तार की ओर बढ़ सकते हैं जबकि दूसरे देश (जो निर्भर होते हैं) ऐसा स्वयं नहीं कर सकते। ये निर्भर देश विकसित देशों की परछाई में ही रहते हैं तथा जो विकास होता है वह उनके विकास पर सकारात्मक अथवा नकारात्मक प्रभाव डाल सकता है।''

अंर्तनिर्भरता को निर्भर देशों की विशेषता अथवा लक्षण नहीं माना जाता अपितु इसकी परिभाषा विकसित देशों के साथ संबंधों के संदर्भ में की जाती है। यह वह स्थिति होती है जो निर्भर देशों के विकास करने की क्षमता को परिसीमित करती है। यह पूंजीवाद के विस्तार के द्वारा प्रतिबंधित होती है। इनका परंपरागत स्वरूप साम्राज्यवाद अथवा उपनिवेशवाद था जबकि इसका वर्तमान स्वरूप नव-उपनिवेशवाद है, अर्थात अविकिसत परिधि राज्यों अथवा नवीन उदय हुए राज्यों (जो पहले साम्राज्यों के उपनिवेश थे) की निर्भरता की स्थिति है जिसमें ये देश विकसित राज्यों, जोकि पहले वाले साम्राज्यवादी देश हैं तथा जो वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था के केंद्र हैं, पर निर्भर बने हुए हैं। निर्भरता सिद्धांत के अधिकतर समर्थक अपने विचारों का प्रतिपादन करने के लिए तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की वर्तमान व्यवस्था की प्रकृति तथा क्षेत्र का विश्लेषण करने के लिए निम्न स्तर के विकसित देशों की राजनीति तथा उनके अविकसित स्वरूप का विश्लेषण करने के लिए केंद्र परिधि (Centre-Pheriphery) मॉडल का प्रयोग करते हैं। इस तरह निर्भरता सिद्धांत तीसरी दुनिया के देशों (परिधि-देशों) की राजनीतिक प्रक्रियाओं तथा उनके विकसित देशों (केंद्रों) के साथ संबंधों का विश्लेषण करने के लिए एक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

निर्भरता सिद्धांत के प्रमुख समर्थक हैं एंड्रे गुंडर फ्रैंक वालर्स्टेन, डॉस सांतोस, सन्कल, फुर्तादो, स्टावनहेगन, यूजो फालेटो तथा फ्रांज फैनन ये सभी विचारक इस बात पर सहमत हैं कि तीसरे विश्व के देशों (जिन्हें फ्रांज फैनन ने पृथ्वी के गिरे हुए व दुर्दशा वाले राज्य कहा है) का निम्न स्तरीय विकास इनके नव-उपनिवेशीय अस्तित्व अर्थात् इनकी विकसित देशों पर निर्भरता 'बाह्य निर्भरता' की स्थिति के साथ प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। परंतु इन विचारकों में ऐसी सांझ के साथ-साथ कई एक विषयों व प्रश्नों पर तीव्र मतभेद भी हैं। ये ऐसे कुछ विषय है निर्भरता तथा निम्न स्तर के विकास की ठीकठाक प्रकृति, परिधि राज्यों तथा केंद्रीय राज्यों में संबंधों की प्रकृति तथा क्षेत्र तथा समस्या के संबंध में संभव सुधार।

3.3 निर्भरता-सिद्धांत के विकास का इतिहास

निर्भरता सिद्धांत की उत्पति के इतिहास का विवरण लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग (Economic Commission for Latin America-ECLA) के कार्य से आरंभ किया जा सकता है। इस आयोग ने सर्वप्रथम लैटिन अमरीका के निम्न स्तर के विकास का विश्लेषण करने तथा संभावित समाधानों को सुलझाने का प्रयास किया था। इसने यह पाया कि लैटिन अमरीकी देशों द्वारा बाहर की ओर केंद्रित जिस प्रोग्राम को अपनाया गया था जो इनके शोषण का यंत्र बना न कि इनके विकास का साधन। इस आयोग द्वारा लैटिन अमरीका के विद्यमान निम्न स्तरीय विकास के लिए साधारण रूप में विश्व आर्थिक व्यवस्था तथा विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया गया। यह निष्कर्ष निकाला गया कि विकसित देशों (केंद्रों) तथा निम्न स्तरीय विकसित देशों (परिधियों) में विश्व का विभाजन ही तीसरी दुनियां के देशों की निरंतर बनी हुई निम्न स्तरीय विकास व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था। परिधि की निर्भरता को केंद्र द्वारा, अपने लाभ के लिए शोषित किया गया था तथा इससे केंद्र तथा परिधि में आर्थिक तथा औद्योगिक अंतर बढ़ रहा था। लैटिन अमरीका अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जिस पर विकसित देशों का प्रभुत्व विद्यमान था, पर अधिकाधिक निर्भर हो रहा था।

लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग (ECLA) द्वारा किये गये विश्लेषण के प्रभाव के अधीन आरंभिक निर्भरता सिद्धांतकारों, विशेषकर फुर्तादो तथा सन्कल, ने यह तर्क देना आरंभ कर दिया कि स्थानीय देशों में आधुनिक पूंजीवादी संस्थाओं के पर्दापण ने ही लैटिन अमरीका व दूसरे निम्न स्तरीय-विकसित राज्यों में निम्न स्तरीय विकास को पैदा किया था। उन्होंने यह स्वीकार करने से इंकार कर दिया कि निम्न-स्तरीय-विकास-स्थिति विकास की पूर्व-स्थिति थी। उन्होंने यह माना कि निम्न-स्तरीय विकास 'विकास' की उत्पति था तथा यह विकसित समाजों द्वारा नियंत्रित अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन तथा तकनीकी प्रक्रिया का ही परिणाम था। विकसित तथा निम्न-स्तरीय विकसित राज्यों के बीच संबंधों की प्रकृति तथा क्षेत्र ने ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार व्यवस्था में एक ऐसे स्वस्थ श्रम विभाजन को पैदा किया जिसमें निम्न स्तरीय विकसित राज्य निर्यात के लिए मूल वस्तुओं के उत्पादक ही बन गए। ऐसे निर्यातों के द्वारा वे विकसित देशों द्वारा बनाई जाने वाली औद्योगिक वस्तुओं के आयातक बन गए। इस व्यवस्था में वास्तविक तथा भारी लाभ विकसित देशों को ही प्राप्त हुआ। उनमें तथा निम्नस्तरीय विकसित देशों में अंतर स्थायी हो गया तथा और भी अधिक गहरा होने लगा। निम्न स्तरीय विकसित देशों की अर्थ व्यवस्थाओं को विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं पर निर्भर होना पड़ा। ये अंतर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के साथ वास्तव तथा उचित रूप में एकीकृत होने में असफल रहीं। ये विकसित देशों पर पूंजी, औद्योगिक साजो-सामान, तकनीक तथा ज्ञान के लिए निर्भर हो गई। विदेशी सहायता के उपकरण ने निम्न स्तरीय विकसित देशों की निर्भरता को और भी बढ़ा दिया। विकसित देशों द्वारा अपनाई गई संरक्षित व्यापार की तथा आर्थिक नीतियों के प्रादुर्भाव ने बहुराष्ट्रीय निगमों, GATT के विकसित राष्ट्रों के हित में झुकाव UNCTAD की असफलता तथा अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संगठनों पर विकसित देशों के नियंत्रण, सभी ने मिलकर परिधियों की केंद्रों पर निर्भरता को पैदा किया तथा इसे बल दिया। परिधियों के निम्न स्तरीय विकास स्तर वास्तव में उनकी विकसित देशों पर निर्भरता बन गये।

3.4 ए. जी. फ्रैंक के विचार

निर्भरता सिद्धांत के विकास में अत्यंत महतवपूर्ण योगदान ए.जी. फ्रैंक तथा वालर्स्टेन ने दिया। दोनों ने दृढ़ रूप में यह तर्क दिया कि तीसरे विश्व (परिधि) के निम्न स्तरीय विकास को विकसित देशों की अर्थ-व्यवस्था के विकास और विस्तार ने संचालित और निर्देशित किया है। उन्होंने यह भी माना कि परिधि देशों का विकास विद्यमान विश्व पूंजी व्यवस्था में नहीं हो सकता क्योंकि यह धनिक राज्यों (केंद्रों) के पक्ष में हैं तथा परिधियों के लिये हानिकारक है। निम्न स्तर के विकसित राज्य विकसित राज्यों के अधीन ही जीवित रह रहे थे। विकास सिद्धांतों द्वारा सुझाये गए आयात-बदलाव उद्योगीकरण विचार ने तीसरे विश्व के देशों की समस्याओं का समाधान नहीं किया। विकास करने की

अपेक्षा अब तीसरे विश्व के राज्यों की अर्थ व्यवस्था विकसित राज्यों की अर्थ-व्यवस्थाओं पर और भी अधिक निर्भर हो गई है। विद्यमान व्यवस्था को जड़ से समाप्त करके ही निम्न स्तरीय विकसित राज्य अब अपना विकास कर सकते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जहां कुछ निर्भरता सिद्धांतकारों ने समाजवादी क्रांति लाने का समर्थन किया वहीं कुछ अन्यों ने उदारवादी-सुधारों-व्यापार में संतुलन स्थापित कर, क्षेत्रीय सहयोग द्वारा सौदेबाजी की स्थिति में शक्तिशाली होकर तथा नई तकनीकों को वृहद्, आर्थिक उपकरणों द्वारा अपना कर इस उद्देश्य की प्राप्ति की वकालत की।

डॉस सान्तोस के समान ए.जी फ्रैंक का विचार है कि लैटिन अमरीकी आर्थिक आयोग (ECLA) का संरचनात्मक दृष्टिकोण द्वारा लैटिन अमरीका के निम्न-स्तरीय विकास को बाहरी परिप्रेक्ष्य वाले विकास मार्ग की 'गलत पसंद' (Mistaken Choice) बताया जाना एक भूल है। उन्होंने वर्तमान आर्थिक संबंधों को असमान प्रकृति के संबंध बतलाया जो कि ठीक था परंतु उन्होंने दुर्भाग्यवश इसमें एकाधिकार-युक्त उपनिवेशीय संरचनाओं तथा विदेशी पूंजी निवेश (Investment) तथा निम्न-स्तरीय विकसित देशों की आंतरिक उपनिवेशीय संरचना को अनदेखा कर दिया।

फ्रैंक ने पश्चिम में पूंजीवाद के विकास संदर्भ में ही निम्न स्तरीय विकास की प्रक्रिया की व्याख्या की। उसने यह मत दिया कि परिधि की निम्न स्तरीय विकास अवस्था विकसित पश्चिम के विकास एवं विस्तार के द्वारा प्रतिबंधित हैं उसने डॉस सान्तोस के साथ सहमति प्रकट की तथा यह माना कि निर्भरता एक परिसीमित करने वाली स्थिति है जोकि परिधि के राज्यों के विकास की संभावनाओं को सीमित करती है।

ए. जी. फ्रैंक ने यह वकालत की कि निम्न स्तर का विकास वास्तव में अधिकतर स्वरूप में विकसित अधीन-राज्यों (परिधियों) तथा विकसित केंद्रों में संबंधों से इतिहास की उपज है। आज के समय में विश्व व्यवस्था में कुछ एक विकसित राज्य अधीन-राज्यों (परिधियों) की एक बड़ी संख्या के विकास को नियंत्रित कर रहे हैं या अवरूद्ध कर रहे है, अथवा इसे धूमिल कर रहे हैं। वह कई एक लैटिन अमरीकी राज्यों का उदाहरण देकर अपने मत की पुष्टि करता है।

फ्रैंक ने लैटिन अमरीकी राज्यों की अर्थ-व्यवस्थाओं का गहन विश्लेषण किया तथा यह निष्कर्ष निकाला कि पूंजीवाद के तीन विरोधाभास हैं। जोकि इनके निम्न स्तर के विकास के लिये उत्तरदायी हैं।

पहले, फ्रैंक आर्थिक अतिरेक (Economic Surplus) के विनियोग तथा छीना-झपटी के विरोधाभास की बात करता है। विश्व पूंजीवादी व्यवस्था की एकाधिकार वाली संरचना इस अतिरेक को छीन लेती है तथा एक चेन की भांति पूंजीवादी संबंधों (Capitalist Links) को पूंजीवादी विश्व तथा राष्ट्रीय केंद्रों तथा इनसे क्षेत्रीय केंद्रों तथा इनसे स्थानीय केंद्रों तथा इसी तरह आगे भी स्थापित करती है। यह विरोधाभास विश्व पूंजीवादी व्यवस्था की शोषण प्रकृति और क्षेत्र को दर्शाता है।

पूंजीवादी व्यवस्था का दूसरा विरोधाभास है महानगरीय अनुषंगी ध्रुवीकरण (Metropolis-satelite polarisation) है। इसका अर्थ है, जैसा कि फ्रैंक कहता है, 'आर्थिक विकास तथा निम्न स्तर का विकास दोनों संबंधित तथा गुणात्मक हैं।' संरचनात्मक रूप में दोनों एक दूसरे से भिन्न होते हैं परंतु फिर भी प्रत्येक दूसरे के साथ संबंधों द्वारा उत्पन्न होता है।

तीसरा तथा अंतिम विरोधाभास जोकि निम्न स्तर के विकास को जन्म देता है वह 'परिवर्तन में निरंतरता' (Continuity in Change) के साथ संबंधित है। पूंजीवादी व्यवस्था के विस्तार एवं विकास ने अपनी आवश्यक संरचनाओं तथा विरोधाभासों को बनाए रखा है तथा इस प्रक्रिया में यह निम्न स्तर के विकसित देशों में निम्न स्तरीय विकास का स्त्रोत रहा है।

निम्न स्तर के विकसित देशों के निम्नस्तरीय विकास का विश्लेषण करते हुए फ्रैंक यह कहता है कि विकसित देशों के समक्ष उनकी अधीनस्थ राज्यों की स्थिति उनके सीमित विकास का स्त्रोत रही है। समय बीतने के साथ-साथ

उनका केंद्रों के साथ संबंध उनके लिए निरंतर निम्न स्तरीय विकास को बनाए रखते हैं तथा इसमें वृद्धि करते हैं। विकसित देशों का आर्थिक पुनरूत्थान भी उनके अधीनस्थ की विकास प्रक्रिया को सीमित करता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि जो क्षेत्र अब बहुत निम्न-स्तरीय विकास वाले क्षेत्र हैं भूतकाल में अपने केंद्रों के साथ कठोर रूप से जुड़े हुए थे।

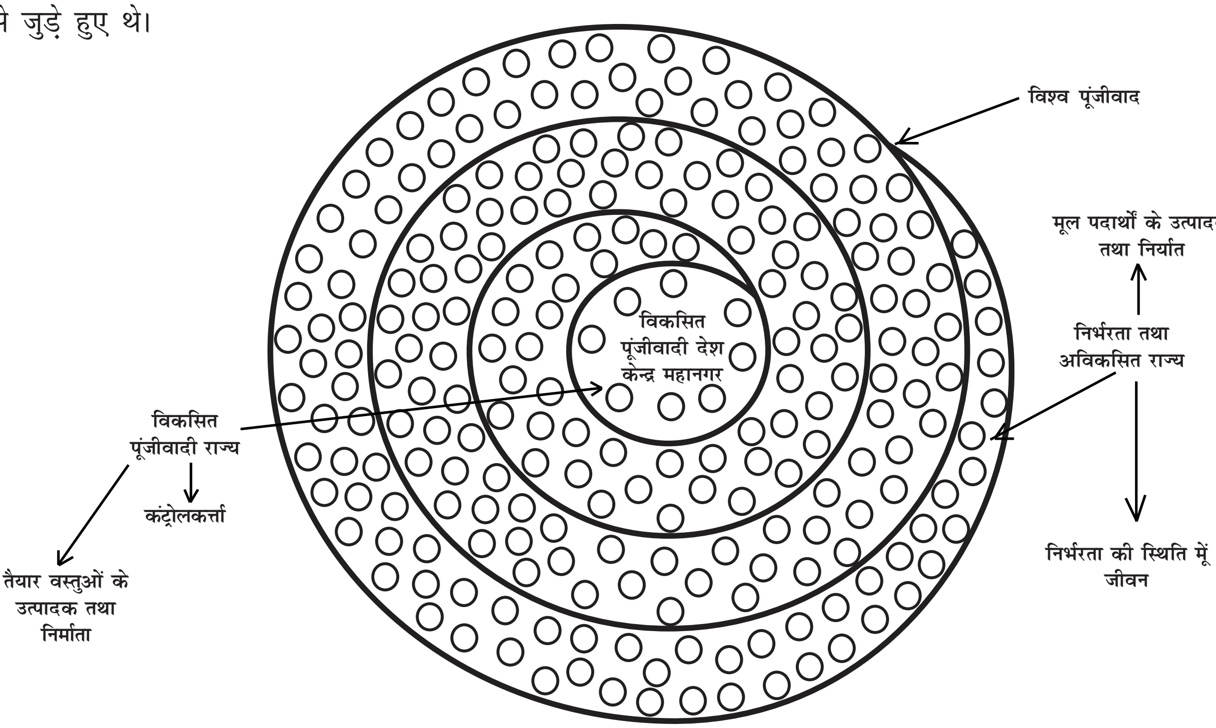

निर्भरता सिद्धांत

निम्न स्तर में विकसित देश किस साधन से अपने निम्न स्तरीय विकास की समस्या पर काबू पा सकते हैं इस प्रश्न के उत्तर में ए. जी. फ्रैंक यह सुझाव देता है कि पहले वास्तविक शत्रु को पहचानना चाहिए। वह यह विश्वास करता है कि यद्यपि पहले रूप में शत्रु साम्राज्यवाद रहा है आज जिस शत्रु को एकदम समाप्त करने की आवश्यकता है वह है बुर्जआ वर्ग, जोकि निर्भर देश के अंदर ही जीवित एवं सक्रिय होता है। यह साम्राज्यवाद (अब नव-उपनिवेशवाद) के एजेंट की भांति कार्य कर रहा है। ऐसे सामाजिक वर्ग के विरूद्ध कार्यवाही घरेलू स्तर पर की जानी आवश्यक है। इसके साथ फ्रैंक यह मानता है कि निर्भरता तथा निम्न स्तरीय विकास चक्र की समाप्ति आर्थिक सुधारों जैसे उद्योगीकरण तथा आयात परिपूर्णता आदि के द्वारा संपन्न नहीं हो सकती। ऐसा घेरलू तथा विश्व स्तरों पर केंद्र-परिधियों के संबंधों के विरूद्ध समाजवादी क्रांति के द्वारा ही किया जा सकता है। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत पूंजीवाद तथा समाजवाद के विचारों को न मानते हुए भी फ्रैंक विद्यमान व्यवस्था की समाप्ति के लिये समाजवादी क्रांति की आवश्यकता को स्वीकार करता है। उसका यह विश्वास है कि विश्व पूंजीवादी व्यवस्था, जोकि आजकल प्रचलित है, के संदर्भ में निम्न-स्तर का विकास ही पनप सकता है, उच्च स्तरीय विकास नहीं। केवल समाजवादी क्रांति ही निम्न स्तरीय विकास को समाप्त कर सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि फ्रैंक कुछ सीमा तक मार्क्सवादी है परंतु वह मार्क्स द्वारा प्रस्तावित समाजवादी क्रांति के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता, वह तो निर्भरता सिद्धांतकार है।

3.5 निर्भरतावादी इमैनुअल वॉलरस्टीन का विश्व व्यवस्था सिद्धांत

निर्भरता सिद्धांत के ही अन्य रूप को विश्व-प्रणाली/व्यवस्था सिद्धांत के अंतर्गत भी अध्ययन किया गया है। यद्यपि कुछ विचारक इन दोनों को अलग-अलग मानते हैं, परंतु दोनों की मूल मान्यताओं में कोई अंतर नहीं है। अंतर केवल व्याख्या को लेकर है। अतः इन्हें निर्भरता के ही एक रूप के अंतर्गत स्वीकारना उचित है।

विश्व प्रणाली सिद्धांत के प्रणेता इमैनुअल वॉलरस्टीन को कहा जा सकता है जिन्होंने अपनी पुस्तक 'द मॉर्डन वर्ल्ड सिस्टम' में इसका विस्तृत उल्लेख किया है।

वॉलरस्टीन का मानना है कि इतिहास में दो प्रकार की विश्व-प्रणालियां पाई जाती हैं। ''विश्व साम्राज्य' और 'विश्व अर्थव्यस्था'। दोनों में मुख्य अंतर यह है कि संसाधनों के बंटवारे के बारे में किस प्रकार से निर्णय लिए जाते है। उनका मानना है कि 'विश्व साम्राज्य' व्यवस्था में शक्ति का प्रयोग 'परिधि राज्यों' से 'केंद्र राज्यों' की ओर संसाधनों का बंटवारा किया जाता है। इसके विपरीत विश्व अर्थव्यवस्था प्रणाली में एक केंद्रीयकृत राजनीतिक ढांचे का अभाव होता है। अतः कानून के द्वारा संसाधन का बंटवारा किए जाने की बजाय बाजार के माध्यम से इसे संपन्न किया जाता है। इस प्रकार यद्यपि संसाधनों के बंटवारे के संबंध में दोनों तक तरीके भिन्न हैं परंतु दोनों का ही कुल परिणाम एक समान है। वह है परिधि वाले राष्ट्रों से केंद्रीय राज्यों की ओर संसाधनों का हस्तांतरण हो रहा है।

वॉलरस्टीन का मानना है कि विश्व की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था चार बुनियादी अंतविरोधों से ग्रस्त है जिनके कारण उसका अंत आवश्म्भावी है, भले ही शीत युद्ध के खात्मे और सोवियत संघ के पराभव के कारण फिलहाल सारी दुनिया में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का बोलबाला हो गया है। इनमें पहला अंर्तविरोध है आपूर्ति और मांग के बीच का लगातार जारी असंतुलन। यह अंसतुलन तब तक जारी रहेगा जब तक उत्पादन संबंधी निर्णय फर्म के स्तर पर लिए जाते रहेंगे। दूसरा है उपभोग से पैदा हुए अधिवेष मूल्य के एक हिस्से को अपने मुनाफे के तौर पर देखने की पूंजीपतियों की प्रवृत्ति। अधिशेष को और बड़े पैमाने पर पैदा करने के लिए आगे चलकर मौजूदा अधिशेष का पुर्नवितरण करना होगा। तीसरा अंर्तविरोध राज्य की क्षमताओं से तालुक रखता है कि आखिर कब तक राज्य की संस्था पूंजीवाद की वैधता कायम रखने के लिए मजदूरों का समर्थन हासिल करने में कामयाब होती रहेगी। चौथा अंर्तविरोध एक वैश्विक प्रणाली और अनगिनत राज्यों के बीच है। इन दोनों के सह अस्तित्व से प्रणाली/व्यवस्था का विस्तार तो हुआ है, पर साथ ही प्रणालीगत संकटों से निपटने के लिए जरूरी बेहतर आपसी सहयोगी की संभावनाएं भी कम हुई हैं।

वॉलरस्टीन का मत है कि आधुनिक विश्व व्यवस्था का उद्‌भव सामन्तवादी प्रणाली के पतन के बाद और वर्ष 1450-1670 के बीच पश्चिमी यूरोप का प्रभुत्व स्थापित हुआ। आधुनिक विश्व व्यवस्था की प्रकृति मुख्य रूप से पूंजीवादी है। वॉलरस्टीन ने फ्रैंक की उपरोक्त तीनों अवस्थाओं के विपरीत पूंजीवादी विश्वि व्यवस्था के विकास की चार अवस्थाएं बताई गई हैं। ये अवस्थाएं हैं

1. 1450 - 1640 तक   2. 1650 - 1730 तक

3. 1760 - 1917 तक   4. 1917 के बाद का दृढ़ीकरण काल

ध्यान देने योग्य है कि वॉलरस्टीन की दृष्टि में पूंजीवाद एक व्यवस्था के रूप में 15वीं शताब्दी के मध्य से मौजूद है। पश्चिमी यूरोप में वर्ष 1150-1300 के मध्य सामंतवाद एक प्रमुख अर्थव्यवस्था थी। इसने वर्ष 1300-1450 के बीच गंभीर संकटों का सामना किया है। इस संकट की प्रतिक्रिया में विश्व आर्थिक व्यवस्था का विकास हुआ और इसने ज्यादातर देशों को अपने प्रभाव में समाहित कर लिया।

पूंजीवादी विश्व व्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर आधारित है। यह श्रम-विभाजन विभिन्न क्षेत्रों के बीच संबंधों की प्रकृति का निर्धारण करता है। साथ ही साथ यह प्रत्येक क्षेत्र की श्रम दशाओं के प्रकारों का भी निर्धारण करता है। वॉलरस्टीन विश्व को क्षेत्रों के आधार पर चार श्रेणियों में बांटते हैं। प्रत्येक श्रेणी में कुछ देश शामिल हैं। ये श्रेणियां विश्व व्यवस्था में इन देशों की तुलनात्मक स्थिति तथा राजनीतिक और आर्थिक विशेषताओं को प्रकट करती है। (विश्व क्षेत्रों की श्रेणियां) ये चार श्रेणियां इस प्रकार हैं:-

केंद्र : उत्तर-पश्चिम यूरोप वर्ष 1450-1670 के दौरान पहले केंद्रीय क्षेत्र के रूप में विकसित हुआ। इंग्लैंड, फ्रांस तथा हॉलैंड इस क्षेत्र के अंतर्गत आते थे। इस क्षेत्र में राज्यों ने मजबूत सरकारों और नौकरशाही का विकास किया था। इसने उन्हें अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर अपना नियंत्रण स्थापित करने में मदद की। साथ ही इसने उन्हें अपने लाभ के

लिए इस व्यापार से अधिशेष अर्जित करने में भी सहायता पहुंचाई। सामंतवाद के संकट के फलस्वरूप भूमिहीन हो चुके कृषकों को शहरों की तरफ पलायन करना पड़ा। इससे नगरीय उद्योगों को सस्ता श्रम उपलब्ध हुआ तथा उनके विकास में सहायता मिली।

परिधि : इस श्रेणी के अंतर्गत पूर्वी यूरोप के देशों (विशेष रूप से पॉलैंड) तथा दक्षिणी अमेरिका को रखा गया। इन देशों के पास उनकी अपनी मजबूत सरकारें नहीं थी और वे अन्य देशों द्वारा नियंत्रित होते थे। ये देश केंद्रीय क्षेत्र के अधिशेष अप्रवासी विनिमय के माध्यम से आता था। इस क्षेत्र में श्रम, बंधुआ मजदूर के रूप में था, जिससे यूरोप को निर्यात किया जाने वाला सस्ता कच्चा माल उत्पादित कराया जाता है।

अर्द्ध-परिधि : यह क्षेत्र ऊपर विवेचित केंद्र और परिधि के क्षेत्रों के बीच स्थित है। इस क्षेत्र के अंतर्गत केंद्रीय क्षेत्र के वे देश जिनकी अर्थव्यवस्था में गिरावट आ रही है तथा परिधीय क्षेत्र के वे देश जिनकी अर्थव्यवस्था में सुधार हो रहा है, शामिल है। वॉलरस्टीन पुर्तगाल और स्पेन का उदाहरण देते हैं, जो अपनी केंद्रीय स्थिति से फिसलकर अर्द्ध-परिधीय क्षेत्र में आ गए।

बाह्य क्षेत्र : ये वे क्षेत्र हैं जिनकी अपनी स्वयं की अर्थव्यवस्था है। इस क्षेत्र के देशों द्वारा आंतरिक व्यापार को अधिक महत्व दिया जाता है। रूस इस क्षेत्र का सबसे बेहतर उदाहरण है।

3.5.1 केन्द्र-परिधि राष्ट्रों की विशेषताएं

वॉलरस्टीन के अनुसार 'केंद्र राष्ट्रों की विशेषता है, प्रजातांत्रिक सरकारें, उच्च वेतन, कच्चे माल का आयात, तैयार शुदा माल का निर्यात, उच्च पूंजी निवेश, कल्याणकारी सेवाएं इत्यादि। ठीक इसके विपरीत 'परिधि वाले राष्ट्रों' की विशेषताएं हैं-गैर प्रजातांत्रिक सरकार पद्धति, कच्चे माल का निर्यात, तैयार माल का आयात, निम्न स्तरीय वेतन, कल्याणकारी सेवाओं का अभाव। परंतु वॉलरस्टीन निर्भरता वादियों से थोड़ा भिन्न है। वह केंद्र व परिधि के अलावा राष्ट्रों की एक अन्य श्रेणी 'सम परिधि' भी मानते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रों की विशेषताएं हैं-सत्तात्मक सरकारें, कच्चे व तैयार माल का निर्यात, तैयार व कच्चे माल का आयात, कम वेतनमान, निम्न स्तरीय कल्याणकारी सेवाएं आदि।

वॉलरस्टीन का भी मानना है कि ये उपरोक्त श्रेणी के राष्ट्र आपस में उत्पादन के शोषणात्मक तरीके से जुड़े हुए हैं जिसके माध्यम से संपदा का हस्तांतरण परिधि के केंद्र वाले राज्यों की तरफ हो रहा है। इसका मानना है कि क्रमिक उतार-चढ़ाव, धर्म निरपेक्ष पद्धति एवं विरोधाभासों के कारण विश्व प्रणाली में संकट आते हैं। इन्हीं संकटों के कारण नई विश्व व्यवस्था का जन्म होता है।

3.6 निर्भरता के सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं

उपरोक्त दोनों ही अवस्थाओं में अध्ययन के पश्चात हम कह सकते हैं कि निर्भरता के सिद्धांत की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :-

1. सर्वप्रथम अधिकतर विद्वानों का मानना है कि वर्तमान संदर्भ में राज्यों की उत्पति का प्रमुख कारण पूंजीवाद का विकास है। इसी पूंजी के विकास के कारण अंतर्राष्ट्रीय अंत: क्रियाओं का आरंभ माना जा सकता है। राज्यों के बीच संसाधनों को लेकर संघर्ष तथा केंद्र वाले राज्यों का परिधि वाले राज्यों के साथ शोषण युक्त संबंधों का मूल कारण पूंजीवाद का विकास ही माना जा सकता है।
2. अधिकतर विद्वानों का मत है कि पूंजी व उत्पादन के संबंधों की दृष्टि से विश्व दो भागों या तीन भागों (वॉलरस्टेन) भागों में बंटा हुआ है। ये तीनों भाग हैं केंद्र, परिधि व सम परिधि (semi-periphery) वाले राष्ट्र हैं। इन राष्ट्रों को मूल रूप में देखें तो इन्हें विकसित या पिछड़े राष्ट्रों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त, वालरस्टेन के सम-परिधि वाले राष्ट्रों को दोनों मिश्रण (दोनों के बीच का) या विकासोन्मुख राष्ट्र कहा जा सकता है।

3. यदि केंद्र या परिधि वाले राष्ट्रों की तुलना करें तो दोनों की गतिविधियां एक दूसरे के विरोधी पाई जाती हैं। केंद्र वाले राज्य मुख्य रूप से विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आते हैं। अत: मूलत: प्रजातांत्रिक पद्धति के साथ-साथ जनसाधारण का रहन सहन का स्तर उच्च दर्जे का है। यहां पर आयात मुख्य रूप से कच्चा माल किया जाता है तथा तैयारशुदा माल निर्यात होता है। यहां कल्याणकारी सेवाएं उपलब्ध करवाई जाती है। इसके विपरीत परिधि वाले राष्ट्र मुख्यत: विकासशील या पिछड़े राज्यों की श्रेणी में आते हैं। यहां पर ज्यातदातर देशों में सरकारें निरंकुश व तानाशाही पर आधाारित होती है। ये मुख्यत: अपना कच्चा माल निर्यात कर विकसित राष्ट्रों से तैयार माल आयात करते हैं। इनके यहां सार्वजनिक व कल्याणकारी सेवाओं का अभाव भी मिलता है। इस प्रकार दोनों की स्थित एक-दूसरे के विपरीत पाई जाती है।

4. दोनों वर्गों के देशों में अतिरिक्त मूल्य की उपलब्धता में भी बड़ा अंतर देखने को मिलता है। जहां तक केंद्र वाले राज्य है वहां तकनीकी और औद्योगिक विकास होने के कारण उत्पादकता अधिक होती है। इसके साथ-साथ लागत कम होने से अतिरिक्त मूल्य काफी मात्रा में पाया जाता है। दूसरी ओर विकासशील देश औद्योगिक व तकनीकी दोनों की दृष्टियों से पिछड़े होने के कारण अतिरिक्त मूल्य अर्जित करने में सक्षम नहीं होते। अत: विकसित राष्ट्र ही बाहय देशों में पूंजी निवेश या वर्चस्व बनाने की सोच सकते हैं, विकासशील राष्ट्रों का तो मात्र शोषण ही होता है।

5. इस सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि ज्यादातर विकासशील देश राजनैतिक रूप से तो स्वतंत्र है लेकिन, आर्थिक रूप से अभी भी वे अपने केंद्रों (औपनिवेशक ताकतों) से जुड़े हुए हैं। इस कारण से वे राष्ट्र सैद्धांति रूप से तो आजाद है, परंतु व्यवहारिक रूप से ऐसा नहीं है। अपनी आर्थिक निर्भरता के कारण वे अभी भी केंद्र संबंधित राष्ट्रों की ओर ही देखते हैं।

6. यदि केंद्र व परिधि वाले राज्यों के आर्थिक उत्पादन की दिशा देखें तो तब दोनों प्रकार के राष्ट्रों की स्थिति बड़ी ही विरोधाभासपूर्ण होती है। जहां तक केंद्र वाले राज्यों का प्रश्न है वहां पर एड्री गुंडर फ्रैंक की भाषा में 'विकास का और विकास' हो रहा है। जबकि परिधि वाले राष्ट्रों की स्थिति बिल्कुल ठीक इसके विपरीत है। इन देशों में ''अविकास या पिछड़ेपन का और विकास'' हो रहा है। अर्थात जहां पर केंद्र वाले राज्य उन्नति की ओर अत्याधिक अग्रसर हैं, वहीं परिधि वाले राष्ट्र अवनति या पतन की ओर अधिक अग्रसर हैं।

7. इस सिद्धांत के समर्थकों का मानना है कि केंद्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य शोषण का रिश्ता होता है । केंद्र वाले राज्य अलग-अलग तरीको के माध्यम से परिधि वाले राज्यों के संसाधनों का हस्तांतरण कर अपना विकास करते रहते हैं। यह संबंध ऐतिहासिक काल में ही नहीं, अपितु वर्तमान समय में भी बदले हुए रूप में जारी है। वर्तमान समय में ये राष्ट्र बहुराष्ट्रीय या राष्ट्रोपरि कंपनियों के माध्यम से इनके संसाधनों का निरंतर हस्तांतरण अपने पक्ष में करते रहते हैं। इन राष्ट्रों की राजनैतिक आजादी के बाद आज तक इस प्रकार का शोषण बदले हुए स्वरूप में जारी है।

8. केंद्र व परिधि वाले राष्ट्रों के मध्य नवीन आर्थिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राज्यों की स्थिति व स्वरूप बदल गए हैं। नवीन शक्ति समीकरण बन गए हैं जिनके अंतर्गत केंद्र के राज्य अत्याधिक पूंजी के विकास के कारण शक्तिशाली राष्ट्र बन गए हैं परंतु परिधि के राष्ट्रों के पास साधनों का अभाव है इसीलिए मात्र छोटे राज्यों की श्रेणी में आ गए हैं। दोनों राष्ट्रों के बीच राजनैतिक व आर्थिक विभिन्नता के साथ-साथ शक्तिशाली व कमजोर राष्ट्रों का बंधन स्थापित हो गया है।

9. इन बदली हुई परिस्थितियों के कारण अब विश्व व्यवस्था का शक्ति संतुलन भी केंद्र वाले राष्ट्रों के हाथ में आ गया है। वे राष्ट्र अब अपनी शक्ति के विस्तार व प्रदर्शन हेतु मूलत: दो प्रकार की नीतियों का अनुसरण करते हैं। प्रथम, ये राष्ट्र परस्पर शक्ति संतुलन का सिद्धांत लागू करते है। इसके माध्यम से ये सतत् रूप से

शक्ति को बढ़ाने व संतुलन बनाने में लगे रहते हैं। द्वितीय, आपसी संतुलन के बावजूद इन शक्तिशाली राष्ट्रों का अंतिम उद्देश्य अपना वर्चस्व या सर्वाधिकार स्थापित करना रहता है। इन्हीं दोनों नीतियों के कारण वे शक्तिशाली होकर भी हमेशा यथास्थिति बनाए रखने में संघर्षरत रहते हैं।

10. इन दोनों प्रकार के राष्ट्रों के संबंध मात्र राजनैतिक एवं आर्थिक स्थिति तक ही सीमित नहीं है। केंद्र वाले राज्यों द्वारा परिधि के राष्ट्रों का शोषण करने की प्रक्रिया में मजदूरों का सम्मिलित होना भी अनिवार्य हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप इन राष्ट्रों के मध्य रंगभेद की विचारधारा का जन्म भी हो गया है। जातीय या चमड़ी के रंग को लेकर भी अब विकसित देश अपने श्रेष्ठ एवं विकासशील राष्ट्रों को हेय मानने लगे हैं। अतः राजनैतिक व आर्थिक के साथ-साथ सांस्कृतिक दृष्टि से भी इन राष्ट्रों के बीच की खाई और गहरा गई है।

3.7 निर्भरता सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन

विकसित तथा निम्न-स्तरीय विकसित देशों में सबंधों के क्षेत्र तथा प्रकृति के स्वरूप तथा निम्न-स्तरीय विकसित देशों में चल रही राजनीतिक व्यवस्थाओं की राजनीति का एक दिलचस्प तथा गहन विश्लेषण निर्भरता सिद्धांत द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस उद्देश्य के लिए अधिकतर निर्भरतावादी सिद्धांतकारों ने केंद्र-परिधि मॉडल का प्रयोग किया है। वे निम्न स्तरीय विकसित देशों की स्थिति का वर्णन निर्भरता की स्थिति के रूप में करते हैं जिसकी उत्पति विश्व-स्तर पर पूंजीवाद के विस्तार के कारण हुई है। अधिकतर निर्भरता-सिद्धांतकार यह विश्वास रखते हैं कि विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के अंदर तथा इसके बने रहने तक निम्न-स्तरीय-विकास का कोई विकल्प नहीं हो सकता। इसी कारण ऐसे सिद्धांतकार भी हैं जो निर्भरता तथा निम्न-स्तरीय-विकास की समस्या के समाधान के लिए समाजवाद का समर्थन करते हैं, जिसकी प्राप्ति समाजवादी क्रांति अथवा उदारवादी-सुधारवादी आंदोलनों अथवा पगों द्वारा हो सकती है।

लेकिन निर्भरता सिद्धांत के आलोचक इस सिद्धांत की निम्नलिखित कई एक त्रुटियों तथा सीमाओं का उल्लेख करते हैं:-

(1) आलोचक यह कहते हैं कि निर्भरता सिद्धांतकार निर्भरता तथा निम्न-स्तरीय-विकास की प्रकृति का स्पष्ट विश्लेषण करते समय एकमत नहीं है। वे निर्भरता संबंधों का विश्लेषण, इसकी समाप्ति के लिए साधनों तथा इसके विकल्पों के सुझावों के संबंध में अलग-अलग विचार देते हैं। निर्भरता सिद्धांत एक सिद्धांत न होकर कई एक विचारों का समूह है।

(2) निर्भरता सिद्धांतकारों का एक संगठित मंच अथवा एकमत दृष्टिकोण नहीं है। उनमें कुछ समाजवादी-राष्ट्रवादी (Socialistic-nationalistic) है जैस फुर्तादो तथा सन्कल, जबकि कुछ दूसरे उग्र सुधारवादी (Radicals) हैं, जैसे डॉस सान्तोस तथा कुछ दूसरे क्रांतिकारी समाजवादी हैं, जैसे ए.जी. फ्रैंक अथवा समाजवादी हैं जैसे कि वाल्र्स्टेन। जहां इनमें से कुछ तो पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्ण परिवर्तन या तो क्रांति के द्वारा या फिर उग्र सुधारवादी साधनों के द्वारा चाहत हैं तो कुछ दूसरे केंद्र तथा परिधियों के संबंधों में संरचनात्मक सुधारों तक नई तरह के सहयोग की स्थापना द्वारा परिधि राज्यों की निर्भरता की समाप्ति का पक्ष लेते हैं।

(3) निर्भरता-सिद्धांतकार न तो निर्भरता और न निम्न-स्तरीय-विकास को स्पष्ट तथा स्वीकृत रूप में परिभाषित कर सके हैं। निर्भर और गैर निर्भर देशों में अंतर स्पष्ट करने के लिए वे कोई स्वीकृत मापदंड प्रस्तुत नहीं करते।

(4) जैसा कि एस. ए. साहू ने लिखा है ''निर्भरता सिद्धांत के लखेकों ने परिधि में पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकता पर चोट की है न कि उनकी निर्भरता के स्तर पर।''

(5) जब हम तीसरी दुनिया के कई एक राज्यों के निम्न-स्तरीय-विकास स्तर का विश्लेषण करते हैं तो हम यह पाते हैं कि इस स्तर की प्रकृति तथा क्षेत्र अलग-अलग देशों तथा महाद्वीपों में भिन्न-भिन्न है। अगर निर्भरता विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के विस्तार का ही परिणाम होती है तो यह अपनी प्रकृति तथा क्षेत्र में लगभग एक जैसी ही होती। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीकी देशों में निम्न स्तरीय विकास की प्रकृति तथा क्षेत्र एक दूसरे से काफी भिन्न ही है।

(6) आलोचक यह तर्क देते हैं कि निर्भरता-सिद्धांतकारों द्वारा प्रयुक्त असमान विनिमय की धारणा तीसरी दुनिया के देशों में विद्यमान निम्न स्तरीय विकास के कारणों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करने में असफल और असमर्थ है। तीसरी दुनिया के देशों की विकसित देशों पर निर्भरता के संबंध में असमान हस्तांतरण का जो कारण माना जाता है उसकी प्रकृति तथा क्षेत्र का किसी सर्वमान्य सिद्वांत के आधार पर परिमापन नहीं किया जा सकता।

(7) सातवां, निम्न स्तरीय विकास का पूंजीवादी विस्तार तथा शोषण के संदर्भ में विश्लेषण करते समय निर्भरता-सिद्धांतकार मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत का उपयोग करते हैं जोकि ठीक नहीं है। अतिरिक्त मूल्य सिद्वांत की अपनी आतंरिक सीमाएं हैं जिनके कारण इसे ठीक और उचित नहीं माना जा सकता।

(8) तीसरी दुनियिा का निम्न स्तरीय विकास बहुत सीमा तक उसके आंशिक उद्योगीकरण के कारण है। इसके लिए निम्न-स्तरीय-विकसित राज्यों द्वारा अच्छी, उचित रूप से निर्मित तथा लागू की जाने वाली औद्योगिक नीतियों के संबंध में असफलता भी उत्तरदायी रही है। निम्न-स्तरीय-विकसित राज्य भी अपने भौतिक तथा मानवीय स्त्रोतों का पूर्ण उपयोग करने में असफल रहे हैं। इस बात का अनुमान कि निम्न-स्तरीय विकसित राज्य अपने अपूर्ण विकास तथा निर्भरता की स्थिति के लिए उत्तरदायी है, इस तथ्य से भी लगाया जा सकता है कि जहां भारत, ब्राजील तथा यहां तक कि मैक्सिको जैसे देश काफी सीमा तक औद्योगिक तथा तकनीकी विकास करने में सफल रहे हैं वहीं बहुत से तीसरी दुनिया के अन्य राज्य ऐसा नहीं कर पाये हैं।

(9) निर्भरता-सिद्धांतकारों द्वारा विश्व को केंद्र तथा परिधि का महानगर तथा अधीन, विकसित तथा पथ से विमुक्त करने जैसा कार्य है। यह स्वीकार करना वास्तव में कठिन है सभी निम्न स्तरीय विकसित देश, भारत तथा ब्राजील जैसे स्थानीय महादेशों सहित विकसित राज्यों पर समान रूप से निर्भर है।

अंत में भूतपूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरापे के भूतपूर्व समाजवादी देशों में विकास के समाजवादी व्यवस्था की असफलता ने यह स्पष्ट रूप से दिखा दिया है कि निर्भरता को समाजवादी क्रांति अथवा समाजवाद द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। विश्व स्तर पर लगभग सर्वव्यापक रूप में ऐसे सिद्धांतों, मुक्त व्यापार, बाजार अर्थव्यवस्था, मुक्त प्रतियोगिता, विकेंद्रीकरण, लोकतंत्रीकरण, अंतर्राष्ट्रीय एकीकरण, विकास के लिए क्षेत्रीय सहयोग तथा कार्यात्मकता आदि को आज के युग में मान्यता प्राप्त हुई है। ऐसा होना उन सभी सिद्धांतों को अस्वीकार किए जाने को प्रतिबिम्बत करता है जो तीसरी दुनियि के देशों को विकसित देशों पर निर्भरता के लिए पूंजीवादी व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराते है। वास्तव में, मार्क्सवादी क्रांतिकारी-समाजवादी तथा साम्यवादी भी निर्भरता-सिद्धांतकारों के अधिकतर विचारों को रदद् करते हैं, विशेष रूप में वे इस सिद्धांत के इस विचार को अस्वीकार करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था केवल एक उत्पादन का ढंग नहीं है अपितु यह विशेष प्रकार के विनिमय संबंधों वाली सामाजिक व्यवस्था है।

3.8 निर्भरता सिद्धांत की उपयोगिता

उपरोक्त आलोचनाओं के वावजूद इस सिद्धान्त की उपयोगिता को भी नकारा नहीं जा सकता है जोकि निम्नलिखित है-

(1) द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमेरिका के नव-स्वतंत्र राष्ट्रों के उदय से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आधार भूत परिवर्तन आए। उन्हीं परिवर्तनों का आंकलन करने हेतु कई सिद्धांतों का प्रतिपादन भी हुआ जिनमें से मुख्य रहे यथार्थवाद, अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली, खेल, सौदेबाजी, संचार आदि। परंतु इन सभी सिद्धांतों ने विश्व व्यवस्था में यथास्थिति को अध्ययन मात्र किया है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धांतों की उत्पत्ति पाश्चयात्य विद्वानों

के पूर्व निर्धारित मन: स्थिति का प्रतीक भी रही। परंतु यह पहला सिद्धांत था, जो यथास्थिति की बजाय बदलाव की बात करने लगा। इसके अतिरिक्त, इसके माध्यम से विकासशील राष्ट्रों के शोषण की समस्या पर गहन चिंतन किया गया। परिधि वाले राष्ट्रों को केंद्र बिंदु मानकर इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया।

(2) इस सिद्धांत से पूर्व सभी सिद्धांत राजनैतिक ढांचों के अध्ययन पर बल देने वाले रहे हैं। इस सिद्धांत के माध्यम से पहली बार आर्थिक कारकों के महत्व को केंद्र बिंदु माना है। आर्थिक तत्व को महत्वपूर्ण मानने के साथ-साथ इसने राजनैतिक व आर्थिक कारकों के संबंधों एवं उनके प्रभावों का गहन विश्लेषण किया है। पहली बार इस सिद्धांत के माध्यम से सतही कारणों की बजाय परिधि राष्ट्रों के पिछड़ेपन की समस्या का गहन अध्ययन करने का प्रयास किया। इस सिद्धांत का माध्यम से विभिन्न श्रेणी के राष्ट्रों के बीच ऐतिहासिक संबंध एवं वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उत्पादन-नव उपनिवेशवाद की समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया। अंत: यह सिद्धांत इन नव-स्वतंत्र राष्ट्रों की सत्यता के अधिक निकट प्रतीत होता है।

3.9 स्वयं जांच प्रश्न (प्रश्नों के उत्तर के लिए 3.12 देखें)

1. इमैनुअल वालर्स्टीन किस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं?
2. The Modern World System नामक पुस्तक किसने लिखी है?
3. निर्भरता सिद्धान्त का मुख्य समर्थक कौन है?
4. वाल्र्स्टीन के अनुसार वर्तमान विश्व व्यवस्था का उदय कब से माना जाता है?

3.10 सारांश

अत: निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि निर्भरता के सिद्धांत के माध्यम से केंद्र (विकसित) एवं परिधि (विकासशील) राष्ट्रों के संबंधों के माध्यम से विश्व व्यवस्था के परिवर्तित स्वरूप को अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इस सिद्धांत के माध्यम से वर्तमान व ऐतिहासिक संदर्भों में समन्वय पैदा करने के साथ-साथ पूंजीवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्रों के संबंधों को समझने के उचित प्रयास किए गए हैं। यद्यपि विभिन्न विद्वानों के विचारों में भिन्नता अवश्य है परंतु आर्थिक कारक या पूंजीवाद के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने में महत्व प्रदान करने पर मुख्य तौर पर आम सहमति नजर आती है, लेकिन इस सिद्धांत के वृहत स्वरूप व व्यष्टिपूर्वक अध्ययन से इस सिद्धांत में कई सैद्धांतिक व व्यवहारिक कमियां स्पष्ट झलकती हैं। परंतु आवश्यकता इस सिद्धांत को त्यागने की न होकर इसे और बारीकियों के साथ तराशने की है। केंद्र व परिधि राष्ट्रों के बीच उत्पन्न वर्चस्व स्थापित करने व विकास अवरूद्ध होने की समस्याओं के गहन अध्ययनों से नए सामान्यीकरणों के स्थापित करने की अति शीघ्र आवश्यकता है।

3.11 शब्दावली

व्यवस्था - शास्त्रों, नियमों आदि के द्वारा निश्चित या निर्धारित किसी कार्य का विधान जो उसके औचित्य का सूचक होता है।

निर्भरता - निर्भर होने की अवस्था।

परिधि - वृत को घेरने वाली रेखा या उसकी लम्बाई का माप।

3.12 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर

1. विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण
2. इमैनुअल वालर्स्टीन

3. ए.जी. फ्रैंक

4. सन् 1450 से 1670 तक

3.13 ग्रन्थ सूची

- बी. एन खन्ना, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: विकास पाब्लिशिंग हाऊस, 1999).
- मथुरालाल शर्मा, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: कॉलेज बुक डिपो).
- प्रभुदत्त शर्मा, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति** (जयपुर: कॉलेज बुक डिपो).
- महेन्द्र कुमार, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष** (जयपुर: शिव अग्रवाल एण्ड कम्पनी).
- इमैनुअल वॉलस्टीम, **द मॉर्डन वर्ल्ड सिस्टम, खण्ड-तीन** (न्यूयार्क: एकेडमिक प्रैस, 1989).
- आर. डेनमार्क, **वर्ल्ड सिस्टम हिस्टरी : फ्रॉम ट्रेडिशनल इन्टरनैशलन पॉलिटिक्स टू द स्टडी ऑफ ग्लोबल रिलेशन.**
- यू.आर.घई, **अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति: सिद्धान्त एवं व्यवहार,** (जालन्धर: न्यू एकडोमिक पब्लिशिंग कम्पनी, 2000).

3.11 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

(1) निर्भरता सिद्धांत क्या है ? विस्तारपूर्वक वर्णन करो।

(2) ए. जी. फ्रैंक के निर्भरतावादी सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(3) इमैनुयल वॉलरस्टीन के विश्व व्यवस्था सिद्धांत का वर्णन करें।

(4) विश्व व्यवस्था दृष्टिकोण का विस्तारपूर्वक वर्णन करें।

(5) निर्भरता सिद्धांत की विशेषताओं एवं आलोचनात्मकताओं का वर्णन कीजिए।

(6) विश्व व्यवस्था सिद्धांत क्या है? वॉलरस्टीन के विचारों के संदर्भ में इस सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।

*****

भाग-2

अध्याय-4

शीत युद्ध : अर्थ, प्रकृति और कारण

संरचना

4.0 भूमिका

4.1 अधिगम उद्देश्य

4.2 शीत युद्ध का अर्थ

4.3 शीत युद्ध की प्रकृति

4.4 शीत युद्ध के साधन

4.5 शीत युद्ध के कारण

4.6 शीत युद्ध का इतिहास

- **4.6.1 शीत युद्ध की तैयारी काल**
- **4.6.2 शीत युद्ध का पहला दौर (1947-1953)**
- **4.6.3 शीत युद्ध का दूसरा दौर (1953-1963)**
- **4.6.4 शीत युद्ध का तीसरा दौर (1963-1970)**

4.7 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत युद्ध का प्रभाव

4.8 शीत युद्ध का पतन (1970-1980)

4.9 स्वयं जांच प्रश्न

4.10 सारांश

4.11 शब्दावली

4.12 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर

4.13 ग्रन्थ सूची

4.14 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

4.0 भूमिका

6 अगस्त, 1945 को नागासाकी एवं 9 अगस्त, 1945 को हिरोशिमा नामक दो जापानी शहरों पर अमेरिका द्वारा परमाणु बम गिराए जाने से द्वितीय विश्व युद्ध की अग्नि ठंडी पड़ी थी। इस युद्ध में हुए भयंकर जान व माल के नुकसान के कारण ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान रूपी महाशक्तियां आर्थिक दिवालिएपन के कगार पर पहुंच गई थीं। अत: विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् दो महाशक्तियां संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ उभरकर सामने आई थीं। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रयुक्त परमाणु शक्ति को सोवियत संघ एक साम्राज्यवादी खतरे के रूप में देखने लगा था और इसे साम्यवादी विचारधारा के लिए खतरा महसूस करने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों शक्तियों में शक्ति की श्रेष्ठता हेतु प्रतिद्वन्द्विता आरंभ हो गई थी ताकि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना वर्चस्व स्थापित किया जा सके। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर दोनों ही एक-दूसरे के विरूद्व अपनी-अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में लग गए।

दोनों देशों में बढ़ती प्रतिद्वन्द्विता ने विश्व को विचाराधारा के आधाार पर दो गुटों पूंजीवादी गुट जिसका नेतृत्व अमेरिका कर रहा था और साम्यवादी गुट जिसका नेतृत्व सोवियत संघ कर रहा था, में बांट दिया। वे एक-दूसरे को कूटनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सैनिक मोर्च पर भी पराजित करने के लिए सक्रिय हो गए जिससे समूचे विश्व में एक बार पुनः संघर्षपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई। इससे एक नए युग का उदय हुआ जिसे 'सशस्त्र शांति का युग' अथवा शीत युद्ध (Cold War) के नाम से जाना जाने लगा था। इस युद्ध के आरंभ होने से यह काल अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच प्रलयकारी आण्विक अस्त्रों-शस्त्रों से युक्त इन दोनों भीमकाय शक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बन गया था। शीत युद्ध महायुद्ध के उपरांत की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण विकास है जिसकी व्याख्या दो पक्षों से की जा सकती है। प्रथम यह एक वैचारिक संघर्ष (Ideological Conflict) था जिसमें दो विरोधी जीवन पद्वतियां-उदारवादी लोकतंत्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद, सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रही थी। इस दृष्टि से यह दो वैचारिक प्रणालियों का सैद्धान्ति संघर्ष है। दूसरी ओर मॉर्गेन्थो के शब्दों में यह पुरानी शक्ति संतुलन राजनीति का नया रूप या संस्करण था जिसमें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिवेश में दो महाशक्तियां सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका अधिकांश व नव स्वतंत्र अथवा अन्य राज्यों को अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में लाने का प्रयास कर रही थीं।

4.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी मुख्य रूप से –

- शीत युद्ध के अर्थ को जान सकेंगे।
- शीत युद्ध की प्रकृति एवं साधनों को समझने में सक्षम होंगे।
- शीत युद्ध के विकास के चरणों को समझ सकेंगे।
- अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक पर शीत युद्ध का क्या प्रभाव पड़ा, जान सकेंगे।

4.2 शीतयुद्ध का अर्थ एवं परिभाषा

शीत युद्ध से हमारा अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमें वास्तविक युद्ध न होते हुए भी युद्ध के समान परिस्थितियां बनाए रखना है। यह एक ऐसा युद्ध है जिसका रणक्षेत्र मानव का मस्तिष्क होता है। इस अवस्था में दो परस्पर विरोधी पक्ष मौजूद होते हैं जो प्रत्येक पक्ष से युद्ध के लिए तैयार होते हुए भी कुछ कारणवश प्रत्यक्ष युद्ध या तो आरंभ नहीं कर पाते हैं या ऐसा करने से जानबूझ कर बचते हैं। इसमें रणक्षेत्र का वास्तविक युद्ध नहीं होता, परंतु विपक्षी राज्यों की सभी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक संबंधों में शत्रुता भरे तनाव की स्थिति रहती थी। यह एक तरह का वाक्युद्ध (Dialogue War) था जिसे कागज के गोलों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो तथा प्रचार साधनों से लड़ा गया। इसमें प्रचार के माध्यम का प्रयोग करके विपक्षी गुट और उसकी जनता के विचारों को प्रभावित करने का प्रयत्न किया गया। शीतयुद्ध की निम्न परिभाषाएं है:-

पं. जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में ''शीत युद्ध प्राचीन शक्ति संतुलन की अवधारणा का नवीन रूप है। यह दो विचारधाराओं का संघर्ष न होकर दो भीमकाय शक्तियों का पारस्परिक संघर्ष है।''

जॉन फॉस्टर डलेस के शब्दों में ''शीत युद्ध नैतिक दृष्टि से धर्म युद्ध था, अच्छाइयों के लिए बुराइयों के विरुद्ध, सत्य के लिए त्रुटियों के विरुद्ध और धर्म परायण लोगों के लिए नास्तिकों के विरुद्ध संघर्ष था।''

डॉ. एम.एस. राजन के शब्दों में ''शीत युद्ध शक्ति संघर्ष की मिली-जुली राजनीति का परिणाम है। दो विरोधी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है, दो परस्पर विरोधी पद्वतियों का परिणाम है, विरोधी चिंतन पद्धतियों तथा संघर्षपूर्ण राष्ट्रीय हितों की अभिव्यक्ति है जोकि समय और परिस्थितियों के अनुसार एक-दूसरे के पूरक के रूप में बदलती रही हैं।''

जोसफ फ्रैंकल के शब्दों में ''शीत युद्ध को दो बड़े राज्यों के मध्य विद्यमान गहरी प्रतियोगिता अर्थात चालों व प्रति चालों का सिलसिला माना जा सकता है।''

ग्रीव्स के अनुसार ''परमाणु युग में शीत युद्ध एक ऐसी तनावपपूर्ण स्थिति है जो शस्त्र युद्ध से कुछ भिन्न है। दूसरे शब्दों में यह एक साधन है जो पारस्परिक विरोधी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक ऐसे युग में प्रभावी सिद्व होता है जिसमें संपूर्ण युद्ध न सिर्फ अत्यधिक खर्चीला होगा अपितु सभी संबंधित राष्ट्रों को नष्ट करने की शक्ति भी रखता होगा।''

हार्ट मैन के शब्दों में ''शीत युद्ध का अर्थ राष्ट्रों के मध्य तनाव की उस स्थिति से है जिनमें एक पक्ष दूसरे पक्ष को कमजोर करने तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने का प्रयत्न करता है परंतु यह वास्तविक युद्ध की स्थिति से भिन्न है।''

लुईस हाले के शब्दों में ''शीत युद्ध परमाणु युग में एक ऐसी तनावपूर्ण स्थिति है जो शस्त्र युद्ध से एक दम भिन्न किंतु उससे अधिक भयानक युद्ध है। यह ऐसा युद्ध है जिसने अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के स्थान पर उन्हें उलझा दिया है। विश्व के सभी देशों व सभी समस्याएं चाहे वह वियतनाम हो, चाहे कश्मीर या कोरिया हो, अथवा अरब इजरायल संघर्ष हो-सभी शीत युद्ध में मोहरे की तरह प्रयुक्त किए गए।''

के.पी.एस. मेनन के अनुसार ''शीत युद्ध जैसा कि विश्व ने अनुभव किया, दो विचारधाराओं, दो पद्वतियों, दो गुटों, दो राज्यों और जब वह अपनी पराकाष्ठा पर था तो दो व्यक्तियों के मध्य उग्र संघर्ष था, दो विचारधाएं थी- पूंजीवाद और साम्यवाद। दो पद्वतियां थीं- संसदीय लोकतंत्र और जनवादी जनतंत्र-बुजुर्आ जनतंत्र और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही। दो गुट थे- नाटो व वारसा पैकट। दो राज्य थे-संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ। दो व्यक्ति थे- जोसेफ स्टालिन और जॉन फॉस्टर डलेस।''

अतः शीत युद्ध से हमारा अभिप्राय दो परस्पर विरोधी शक्ति गुटों के मध्य विद्यमान ऐसी व्यवस्था है जिसमें शामिल देश जोकि प्रत्यक्ष तौर पर युद्ध से बचते हैं, परंतु ऐसा वातावरण बनाए रखते हैं जोकि युद्ध को प्रोत्साहित करता हो। दोनों ही पक्षों में एक तरफ तो ऊपरी तौर पर राजनीतिक तथा राजनयिक संबंध कायम रहते हैं, वार्ताएं होती रहती हैं और दूसरी ओर दोनों ही पक्ष ऐसे अवसरों की तलाश में रहे हैं जब अपने विरोधी को किसी न किसी तरह नीचा दिखाकर उसके प्रभाव में कमी की जा सके तथा स्वयं के प्रभाव का विस्तार किया जा सके।

संक्षेप में शीत युद्ध के लक्षण इस प्रकार हैं :-

(1) शीत युद्ध दो सिद्धांतों का ही नहीं, अपितु दो महाशक्तियों अमेरिका और सोवियत संघ का संघर्ष था।

(2) शीत युद्ध में प्रचार का महत्व था, यह वाक युद्ध था।

(3) दोनों शिविरों के मध्य तनावपूर्ण संबंधों की स्थिति को शीत युद्ध कहा गया।

(4) यह गरम युद्ध (Hot War) से भी अधिक भयानक था।

(5) शीत युद्ध में दोनों महाशक्तियां व्यापक प्रचार, गुप्त चरी, सैनिक हस्तक्षेप, सैनिक संधियों की स्थापना करके अपनी स्थिति को सुदढ़ करने में लगी रही।

4.3 शीत युद्ध की प्रकृति

शीत युद्ध की प्रकृति के संबंध में निम्नलिखित तथ्यों के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया जाता है-

1. शीत युद्ध की पृकृति कूटनीतिक युद्ध के समान हैं, जो अत्यंत उग्र होने पर सशस्त्र युद्ध को जन्म दे सकती है। शीत युद्ध से ग्रस्त दोनों पक्ष आपस में शीत युद्ध कालीन कूटनीतिक संबंध बनाए रखते हुए भी शत्रु भाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक-दूसरे को कमजोर बनाने का प्रयत्न करते हैं।

2. शीत युद्ध के काल में दोनों पक्ष या गुट अपने-अपने सहयोगी देशों के साथ अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए सैद्धान्तिक विचारधाराओं तथा मान्यताओं पर तीव्र गति से बल देते हैं।
3. दोनों पक्ष विश्व के निर्बल राष्ट्रों को अपने पक्ष में करने के लिए आर्थिक सहायता देते हैं ताकि उन्हें अपने-अपने गुट में शामिल किया जा सके।
4. दोनों पक्ष कमजोर राष्ट्रों को अपनी कर्मस्थली के रूप में प्रयोग करके उनसे जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, शस्त्र सप्लाई, शस्त्रीकरण, सैनिक गुटबंदी, प्रादेशिक संगठनों का निर्माण आदि कार्य लेते हैं, जो कि शीत युद्ध का भाग है।
5. शीत युद्ध एक ऐसी स्थिति भी है जिसे मूलतः 'गर्म शांति' कहा जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में न तो पूर्ण रूप से शांति रहती है और न ही 'वास्तविक युद्ध' होता है, बल्कि शान्ति एवं युद्ध के मध्य की अस्थिर स्थिति बनी रहती है।
6. शीत युद्ध, युद्ध का त्याग नहीं, अपितु केवल दो महाशक्तियों के प्रत्यक्ष टकराव की अनुपस्थिति माना जाएगा।
7. यद्यपि इसमें प्रत्यक्ष युद्ध नहीं होता है, किंतु यह स्थिति युद्ध की प्रथम सीढ़ी है जिसमें युद्ध के वातावरण का निर्माण होता रहता है।
8. शीत युद्ध एक वाक युद्ध था जिसके अंतर्गत दो पक्ष एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते रहते थे जिसके कारण छोटे-बड़े सभी राष्ट्र आशंकित रहते थे।
9. यह धारणा शांति के लिए युद्ध की तैयारी में विश्वास करती है अर्थात यदि विश्व में शान्ति व व्यवस्था को बनाए रखना है तो युद्ध के लिए तैयार रहें।
10. यह व्यवस्था विश्व में आतंक व भय (Fear and Terror) को बनाए रखना चाहती थी।

4.4 शीत युद्ध के साधन

शीत युद्ध के निम्नलिखित साधन हैं, जिनका प्रयोग करके दोनों महाशक्तियां अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सकती थीं-

1. **प्रचार (Propaganda)-** शीत युद्ध का प्रथम और प्रमुख साधन प्रचार करना था। प्रचार करने से हमारा अभिप्राय अपनी नीतियों, कार्यक्रमों आदि के पक्ष में व शत्रु राष्ट्र के द्वारा निर्मित नीतियों और कार्यक्रमों के विरोध में अपनी जनता व अन्य देशों की जनता के मध्य चेतना पैदा करना। शीत युद्ध के दौरान प्रचार का उद्देश्य-शत्रु राष्ट्र के प्रति घुणा जागृत करना, अपने राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति निष्ठा बनाए रखना, मित्र राष्ट्रों के प्रति सौहार्द की भावना विकसित करना आदि प्रमुख है। इसके लिए वह रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र-पत्रिकाओं आदि के माध्यम से अपने विचारों को अपनी जनता व अन्य राष्ट्रों की जनता तक पहुंचाने का प्रयत्न करते थे। इस तरह प्रचार शीत युद्ध का एक सशक्त साधन बन गया था।
2. **कूटनीति (Diplomacy)-** शीत युद्ध का दूसरा सबसे प्रभावशाली और सशक्त साधन कूटनीति था। यह कूटनीतिक साधनों से लड़ा जाने वाला युद्ध था। शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों ने अपनी-अपनी कूटनीतिक चालों के माध्यम से एक-दूसरे को कमजोर करने का प्रयास किया था। कभी-कभी इसका प्रयोग विभिन्न राष्ट्रों की ओर से झूठ बोलने की कला के रूप में तथा इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में धोखा तथा छल-कपट के उपकरण के रूप में किया गया। शीत युद्ध के दौरान दोनों पक्षों द्वारा विभिन्न अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय प्रबंधों और सामूहिक सुरक्षा प्रयत्नों का महत्व बढ़ जाने के कारण कूटनीति का प्रयोग अपने सही व गलत कार्यों को अंतर्राष्ट्रीय बिरादरी के सामने इस तरह से करने का निश्चय किया था जिससे ऐसा लगे कि वह राष्ट्र का सच्चा है। इसके लिए संबंधित राष्ट्र के द्वारा विदेशी कार्यालयों, दूतावासों, दूतकार्यों, राजनेताओं तथा विश्वव्यापी विशेष मिशनों का प्रयोग किया जाता है।

3. **जासूसी (Spying)-** शीत युद्ध का तीसरा सबसे सशक्त माध्यम जासूसी है। जासूसी एक ऐसी कला है जिसके प्रयोग से एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सैनिक, सामरिक, आर्थिक और सामाजिक जानकारी गुप्त तरीके से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस व्यवस्था का प्रयोग यद्यपि प्राचीन काल से ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में होता आ रहा है, परंतु शीतकाल के दौरान दोनों पक्षों द्वारा इस साधन का प्रयोग एक-दूसरे की सैनिक एवं सामरिक शक्ति का पता लगाने के लिए किया था। U-2 विमान की दुर्घटना जासूसी के कारण ही हुई थी जब अमेरिका का एक टोही विमान सोवियत संघ द्वारा गिरा दिया गया, उस समय उक्त जहाज सोवियम संघ के सैन्य एवं सामरिक महत्त्व के ठिकानों की टोह ले रहा था।

4. **आर्थिक सहायता (Economic Aid)-** आर्थिक सहायता शीत युद्ध का चौथा प्रमुख साधन माना जाता है। दोनों पक्षों के द्वारा आर्थिक रूप से कमजोर व पिछड़े हुए राष्ट्रों की पहचान करके उन्हें विभिन्न माध्यमों से आर्थिक सहायता प्रदान करते हैं। आर्थिक सहायता देने का एकमात्र उद्देश्य कमजोर राष्ट्रों को अपने पीछे लगाना होता है। उदाहरणस्वरूप एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के सैंकड़ों ऐसे देश जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है उन्हें यह विभिन्न तरह से आर्थिक सहायता देते हैं जैसे कि ऋण उपलब्ध करवाना, आर्थिक पैकेज की घोषणा, इन देशों में निवेश करके, उनके सार्वजनिक क्षेत्र उद्यमों में अपना आर्थिक एवं तकनीकी योगदान करना आदि प्रमुख है। अमेरिका ने अपना काफी धन पाकिस्तान के सार्वजनिक उद्यमों के विकास में तथा सोवियत संघ के द्वारा भारत के सार्वजनिक उद्यमों के विकास में लगाया था।

5. **शक्ति का प्रदर्शन (Demonstration of Power)-** शक्ति का प्रदर्शन शीत युद्ध का एक प्रमुख व अंतिम साधन है। इसके अंतर्गत एक राष्ट्र द्वारा अपनी सैनिक और तकनीकी शक्ति की श्रेष्ठता का प्रदर्शन विभिन्न माध्यमों से किया जाता है तथा इसके प्रयोग से शत्रु पक्ष की सामरिक स्थिति की तुलना की जाती है और इस तुलना के द्वारा अपने सैनिक संसाधनों को श्रेष्ठ दर्शाने का यत्न किया जाता है। सोवियत संघ और अमेरिका ने समय-समय पर अपने आण्विक व जैविक अस्त्रों की भारत शक्ति का प्रदर्शन करके विश्व में भय का वातावरण तैयार करने का प्रयत्न किया था।

4.5 शीत यद्ध के कारण

द्वितीय महायुद्ध ने दो महाशक्तियों-संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ को जन्म दिया। महायुद्ध की समाप्ति के बाद दोनों महाशक्तियां युद्ध से प्राप्त लाभ की स्थिति को बनाये रखना चाहती थीं और अपने प्रभाव के विस्तार के लिए उत्सुक थीं। उनकी आकांक्षाओं की पूर्ति के मार्ग में एक शक्ति दूसरे के लिए बाधक थी। दोनों ही पक्षों को एक-दूसरे से कुछ शिकायतें थी। वे शिकायतें ही मूल रूप में शीत युद्ध की उत्पत्ति का कारण थीं। शीत-युद्ध के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:-

1. **ऐतिहासिक कारण**- कतिपय पर्यवेक्षक शीत-युद्ध का कारण 1917 की वोल्शेविक क्रांति में ढूंढते हैं। सन् 1917 की बोल्शेविक क्रांति के समय से ही पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहे थे, क्योंकि साम्यवाद एक विश्वव्यापी आंदोलन था जिसका अंतिम उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त करके पूरे विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना था। ब्रिटेन ने सोवियत संघ को 1924 और अमरीका ने उसे 1933 में ही मान्यता दी थी। पश्चिमी देश साम्यवादी रूस को नाजी जर्मनी की अपेक्षा अधिक आशंका की दृष्टि से देखते रहे। पश्चिमी देश हिटलर को सोवियत संघ पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित करते रहे।

2. **द्वितीय मोर्चे का प्रश्न**- द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान 1941-42 में जब हिटलर की सेना बड़ी तेजी से सोवियत संघ में प्रवेश करती जा रही थी और उसे भारी क्षति पहुंच रही थी तो ऐसे भी स्टालिन ने ब्रिटेन व अमेरिका को एक अन्य मोर्चा खोलने का आग्रह किया था ताकि हिटलर व उसकी सेनाओं का ध्यान उस आरे आकर्षित किया जा सके, परंतु ब्रिटेन व अमेरिका ने स्टालिन के इस आग्रह की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया था जिसके

कारण सोवियत विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह देरी दोनों देशों की योजनाबद्ध नीति का अंग थी जिससे हिटलर की सेनाएं सोवियत संघ को पूर्ण तौर पर ध्वस्त करे दें। अतः स्टालिन युद्ध के पश्चात इन दोनों को सबक सिखाने का निर्णय करने लगा था जिसका प्रतिफल शीत युद्ध के रूप में हमारे सामने आया।

3. **अमेरिका द्वारा अणु बम्ब का प्रयोग**- द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब जर्मनी और इटली द्वारा मित्र सेनाओं के आगे आत्म-समर्पण कर दिया गया था तो उस समय जापान बड़ी तेजी से एशिया के देशों को रौंदता हुआ आगे बढ़ रहा था। इसके कारण ब्रिटेन व अमेरिका की चिंताएं बढ़ने लगी। अमेरिका ने गुपचुप ढंग से परमाणु बम्ब का अविष्कार कर लिया था। इस बम्ब की जानकारी ब्रिटेन को थी परंतु सोवियत संघ को जानबूझ कर परमाणु शक्ति और उसके जापान के विरुद्ध उपयोग से अनभिज्ञ रखा था। अगस्त 1945 में जब अमेरिका ने इस परमाणु शक्ति का प्रयोग जापान के विरुद्ध किया तो इससे सोवियत संघ को भारी सदमा पहुंचा था। जापान पर परमाणु बम्ब के प्रयोग से अमेरिका यह सिद्ध करना चाहता था कि अमेरिका ही एकमात्र सर्वश्रेष्ठ शक्ति है और उसे सोवियत संघ के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। सोवियत संघ ने कहा कि जब वह युद्ध में मित्र देशों के साथ है तो हमसे यह रहस्य क्यों छिपाया गया। इस कारण सोवियत संघ को गहरा दुखः पहुंचा था और उसने इसे एक घोर विश्वासघात माना था। इस कारण दोनों देशों में श्रेष्ठता सिद्ध करने की होड़ आरंभ हो गई थी।

4. **युद्धोत्तर उद्देश्यों में अंतर**- अगस्त, 1945 में द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हो गया था। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् भविष्य में जर्मनी के विरुद्ध सुरक्षित रहने के लिए सोवियत संघ यूरोप के देशों को सोवियत प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था। पश्चिमी देशों को भय था कहीं जर्मनी पर अपना प्रभाव स्थापित करने से सोवियत संघ अत्यंत शक्तिशाली न बन जाए। इसीलिए वह इसके बढ़ते प्रभाव को कम रखने के लिए कटिबद्ध थे। इसके लिए आवश्यक था कि इन देशों में स्वतंत्र व निष्पक्ष चुनाव हो ताकि पूर्वी यूरोप के देशों में प्रजातांत्रिक सरकारें स्थापित हो सके, परंतु सोवियत संघ किसी भी कीमत पर पूर्वी यूरोप को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाना चाहता था। स्टालिन साम्यवादी सरकारों को ही वास्तविक जनवादी सरकारें मानता था।

5. **सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की अवहेलना**-याल्टा सम्मेलन (1945) में रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने कुछ समझौते किये थे। पोलैंड में सोवियत संघ द्वारा सरंक्षित 'लुबनिन शासन' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लंदन शासन' के स्थान पर स्वतंत्र और निष्पक्ष निर्वाचन पर आधारित एक प्रतिनिध्यात्मक शासन स्थापित करने का निर्णय लिया। लेकिन जैसे ही युद्ध का अंत निकट दिखाई देने लगा स्टालिन ने अपने वचनों से मुकरना प्रारंभ कर दिया। उसने अमरीकी और ब्रिटिश प्रेक्षेकों को पोलैंड में प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी तथा पौलैंड की जनतंत्रवादी पार्टियों को मिलाने की कार्यवाही प्रारंभ कर दी। उसने पोलैंड में अपनी संरक्षित लुबनिन सरकार को लादने का प्रयत्न किया। हंगरी, बुल्गारिया, रोमानिया और चेकोस्लोवालिया में भी सोवियत संघ द्वारा युद्ध-विराम समझौतो तथा याल्टा व पोट्सडाम संधियों का उल्लंघन किया गया। सोवियत संघ ने इन सभी देशों में लोकतंत्र की पुनर्स्थापना में मित्र-राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इंकार कर दिया और सोवियत संघ समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं। सोवियत संघ की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्र-राष्ट्रों को साइबेरिया में अड्डों की सुविधाा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के रूस के प्रति संदेह को बढ़ाया। मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने 1946 के प्रारंभ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहां प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश संबंधी सुविधाएं प्रदान कीं और उनको संपूर्ण युद्ध सामग्री सौंप दी जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गई थी। याल्टा समझौतों के विरुद्ध की गई सोवियत कार्यवाहियों से पश्चिमी राष्ट्रों के हृदय में सोवियत संघ के प्रति संदेह उत्पन्न होने लगा।

6. **सोवियत संघ द्वारा बाल्कन समझौते का अतिक्रमण**– सोवियत संघ ने अक्तूबर 1944 में चर्चिल के पूर्वी यूरोप के विभाजन के सुझाव को स्वीकार कर लिया था। इसके अंतर्गत यह निश्चित हुआ था कि सोवियत संघ का बुल्गारिया तथा रूमानिया में प्रभाव स्वीकार किया जाए और यही स्थिति यूनान में ब्रिटेन की स्वीकार की जाए। हंगरी तथा यूगोस्लाविया में दोनों का बराबर प्रभाव माना जाए, किन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद इन देशों में वाल्कन समझौते की उपेक्षा करते हुए सोवियत संघ ने साम्यवादी दलों को खुलकर सहायता दी और वहां 'सर्वहारा की तानाशाही' स्थापित करा दी गई। इससे पश्चिमी देशों का नाराज हो जाना स्वाभाविक था।

7. **ईरान से सोवियत सेना का न हटाया जाना**–द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सोवियत सेना ने ब्रिटेन की सहमति से उत्तरी ईरान पर अधिकार जमा लिया था। यद्यपि युद्ध की समाप्ति के बाद आंग्ल–अमरीकी सेना तो दक्षिणी ईरान से हटा ली गयी, पर सोवियत संघ ने अपनी सेना हटाने से इंकार कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव के फलस्वरूप ही सोवियत संघ ने बाद में वहां से अपनी सेनाएं हटाई। इससे भी पश्चिमी देश सोवियत संघ से नाराज हो गए।

8. **यूनान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप**–1944 में एक समझौते के द्वारा यूनान ब्रिटेन के अधिकार क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया था। द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटेन की स्थिति बहुत कमजोर हो गई थी जिससे ब्रिटेन ने यूनान के अपने सैनिक अड्डे समाप्त करने की घोषणा कर दी। यूनान के शक्ति–शून्य प्रदेश को भरने के लिए पड़ोसी साम्यवादी देशों–अल्बानिया, यूगोस्लाविया, बुल्गारिया आदि द्वारा सोवियम संघ की प्रेरणा से यूनानी कम्यूनिस्ट छापामारों को परंपरागत राजतंत्री शासन उखाड़ फैंकने के लिए सहायता दी जाने लगी। परिणामस्वरूप टूमैने सिद्धांत और मार्शल योजना के तत्वाधान में अमेरिका का हस्तक्षेप किया जाना अपरिहार्य हो गया अन्यथा यूनान का साम्यवादी खेमे में जाना निश्चित सा ही हो गया था।

9. **टर्की पर सोवियत संघ का दबाब**– युद्ध के तुरंत बाद सोवियत संघ ने टर्की पर कुछ भू–प्रदेश और वास्फोरस में नाविक अडड्ा बनाने का अधिकार देने के लिए दबाव डालना शुरू किया, परंतु पश्चिमी राष्ट्र इसके विरुद्ध में थे। जब टर्की पर सोवियत संघ का हस्तक्षेप बढ़ने लगा तो अमरीका ने उसे चेतावनी दी कि टर्की पर किसी भी आक्रमण को सहन नहीं किया जाएगा और मामला सुरक्षा परिषद में रखा जाएगा।

10. **सोवियत संघ द्वारा अमरीका विरोधी प्रचार अभियान**–द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही प्रमुख सोवियत पत्रों में अमरीका की नीतियों के विरुद्ध घोर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार अभियान' से अमरीका के सरकारी और गैर–सरकारी क्षेत्रें में बड़ा विक्षोभ फैला और अमरीका ने अपने यहां बढ़ती हुई साम्यवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाना प्रारंभ कर दिया ताकि अमरीका में साम्यवाद के प्रभाव को बढ़ने से रोका जा सके। सोवियत संघ ने अमरीका में भी साम्यवादी गतिविधियों को प्रेरित किया। 1945 के प्रारंभ में 'स्ट्रेटजिक सर्विस' के अधिकारियों को यह ज्ञात हुआ कि उनकी संस्था के गुप्त दस्तावेज साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले पत्र अमेरेशिया के हाथों में पहुंच गए हैं। 1946 में 'कैनेडियन रॉयल कमीशन' की रिपोर्ट में कहा गया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' है। ऐसी स्थिति में अमरीकी प्रशासन साम्यवादी सोवियत संघ के प्रति जागरूक हो गया और उन्होंने साम्यवाद का हौवा खड़ा कर दिया। सोवियत संघ ने अमरीका की इस कार्यवाही को अपने विरुद्ध समझा और उसने भी अमरीका की कटु आलोचना करने का अभियान प्रारंभ कर दिया, परिणामस्वरूप शीत–युद्ध में वृद्धि हुई।

11. **पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान**–पश्चिम की सोवियत विरोधी नीति और प्रचार अभियान ने जलती आहुति में घी का काम किया। 18 अगस्त, 1945 को बर्नेज (अमरीकी राज्य सचिव) तथा बेविन (ब्रिटिश विदेश मंत्री) ने अपनी विज्ञप्ति में सोवियत नीति के संदर्भ में कहा कि ''हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।'' 5 मार्च 1946 को अपने

फुल्टन भाषण में चर्चिल ने कहा कि ''बाल्टिक में स्टेटिन से लेकर एड्रियाटिक में ट्रीस्टे तक, महाद्वीप (यूरोप) में एक ''लौह आवरण'' छा गया था। ये सभी प्रसिद्व नगर और सोवियत क्षेत्र में बसने वाली जनता न केवल सोवियत प्रभाव में है वरन् सोवियत नियंत्रण में है। उसने आगे कहा कि ''स्वतंत्रता की दीप-शिखा प्रज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए'' एक आंग्ल-अमरीकी गठबंधन की आवश्यकता है। चर्चिल के फुल्टन भाषण के दूरगामी परिणाम हुए। अप्रैल 1946 के उपरांत दोनों पक्षों ने अपने मतदभों को खुले आम प्रकट करना शुरू कर दिया जिसमें दोनों पक्षों का एक दूसरे के प्रति शत्रुतापूर्ण दृष्टिकोण एक नग्न सत्य बन गया। वह शायद चर्चिल के व्याख्यान का ही प्रभाव था कि जिसने 'मुनरो सिद्धांत' को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया और जिसने 'मार्शल योजना' को जन्म दिया। चर्चिल के फुल्टन भाषण के संबंध में कहा गया कि ''ब्रिटेन के युद्धकालीन नेता के फुल्टन भाषण ने शीत युद्ध का वास्तव में प्रारंभ न किया हो तो भी वह प्रथम बुलंद उद्घोषणा थी।''

12. **बर्लिन की नाकेबंदी**- सोवियत संघ द्वारा लंदन प्रोटोकोल (जून 1948) का उल्लंघन करते हुए वर्लिन के नाकेबंदी कर दी गई। इससे पश्चिमी देशों ने सुरक्षा परिषद में सोवियत संघ की नाकेबंदी के विरूद्ध शिकायत की और इस कार्यवाही को शांति के लिए घातक बताया।

13. **सोवियत संघ द्वारा 'वीटो' का बार-बार प्रयोग**-सोवियत संघ ने अपने 'वीटो' के अनियंत्रित प्रयोगों द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में बाधाएं डालनी प्रारंभ कर दिया क्योंकि वह संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व शांति और सुरक्षा स्थापित करने वाली एक विश्व संस्था न मानकर अमरीका के विदेश विभाग का एक अंग समझता था। इसलिए 'वीटो' के बल पर उसने अमरीका और पश्चिमी देशों के लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपना ली। सोवियत संघ द्वारा वीटो के इस प्रकार दुरुपयोग करने से पश्चिमी राष्ट्रों की यह मान्यता बन गई कि वह इस संगठन को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। इस कारण पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ की कटु आलोचना करने लगे, जिसके परिणामस्वरूप उनमें परस्पर विरोध और तनाव का वातावरण और अधिक विकसित हो गया।

14. **सोवियत संघ की लैंड-लीज सहायता बंद किया जाना**-लैंड लीज एक्ट के अंतर्गत अमरीका द्वारा सोवियत संघ को जो आंशिक आर्थिक सहायता दी जा रही थी उससे वह असंतुष्ट तो था ही क्योंकि यह सहायता अत्यंत अल्प थी, किन्तु इस अल्प सहायता को भी राष्ट्रपति टूमैन ने द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद एकाएक बंद कर दिया जिससे सोवियत संघ का नाराज होना स्वाभाविक था।

15. **शक्ति संघर्ष**- मॉरगेन्थाऊ के अनुसार ''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष की राजनीति है।'' विश्व में जो भी परम शक्तिशाली राष्ट्र होते हैं उनमें प्रधानता के लिए संघर्ष होना अनिवार्य होता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ तथा अमरीका ही दो शक्तिशाली राज्यों के रूप में उदय हुए, अत: इनमें विश्व-प्रभुत्व स्थापित करने के लिए आपसी संघर्ष होना अनिवार्य था। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का यह माना हुआ सिद्धांत है कि शक्ति-राजनीति को सैद्धांतिक आदश्रें का जामा पहनाया जाता है। अत: कई विचारक तो शीत-युद्ध को पुरानी शक्ति-संतुलन की राजनीति का नया संस्करण मानते हैं, जिसमें दोनों महाशक्तियां अपना प्रभुत्व बढ़ाने में जी-जान से लगी हुई थी। धीरे-धीरे इसे सैद्धांतिक आधार दे दिया गया।

16. **हित संघर्ष**-शीत युद्ध वस्तुत: राष्ट्रीय हितों का संघर्ष था। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत अनेक मुद्दों पर सोवियत संघ और अमरीका के स्वार्थ आपस में टकराते थे। ये विवादास्पद मुद्दे थे-जर्मनी का प्रश्न, वर्लिन का प्रश्न, पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासन की स्थापना करना आदि।

4.6 शीत युद्ध का इतिहास

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत युद्ध के 1945-70 ई. के वर्षों के इतिहास का विभिन्न वर्गों में विश्लेषण किया जा सकता है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए हम अग्रलिखित विभाजन कर सकते हैं-

(क) शीत युद्ध की तैयारी काल (1945-47)

(ख) शीत युद्ध का पहला दौर (1947-53)

(ग) शीत युद्ध का दूसरा दौर (1953-63)

(घ) शीत युद्ध का तीसरा दौर (1963-70)

4.6.1 शीत युद्ध का तैयारी काल

1. **परस्पर भय तथा अविश्वास**- 1945 ई. से 1947 ई. तक के बीच सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियां एक-दूसरे के कट्टर आलोचक बन गई थीं। विभिन्न विषयों पर मतभेदों के कारण एक दूसरे के प्रति अविश्वास तथा भय फिर से पैदा हो गया था जो युद्ध के दौरान गौण हो गया था। परिणामस्वरूप, पश्चिमी शक्तियां एक बार फिर साम्यवादी संकट के विषय में संशकित हो गई थीं जैसा कि विश्व राजनीति में सोवियत संघ की शक्ति के उत्थान से ही प्रकट था तथा सोवियत संघ ने पूंजीवाद के विरुद्ध लड़ने का निश्चय कर लिया था।

2. **परस्पर विरोधी विचारधाराएं -** लोकतंत्र बनाम साम्यवाद, फ्रीलैंड या स्वतंत्रता बनाम निरकुंशता इन सभी विचारधााराओं के संबंध में विरोध एक बार फिर पश्चिमी तथा साम्यवादी राजनीतिज्ञों के भाषणों तथा दिमागों में प्रधान हो गया तथा उन्होंने एक-दूसरे के बढ़ते खतरे को रोकने के लिये नीतियां बनानीं आरंभ कर दीं।

3. **चर्चिल का फल्टन भाषण-** मार्च 1946 को अपने लोकप्रिय फल्टन भाषण में ब्रिटेन के प्रधाानमंत्री चर्चिल ने साम्यवाद से खतरे संबंधी विचारधारा का सार प्रस्तुत किया। उसने कहा, ''मित्र-राष्ट्रों की विजय द्वारा बहुत देर बाद प्रकाशित दृश्यों पर एक छाया पड़ गई हैं, कोई नहीं जानता कि सोवियत रूस तथा इसका साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीय संगठन निकट भविष्य में क्या करने वाला है। बाल्टिक में स्टैटिन से एडरिएटिक में ट्रीस्टे तक सारे महाद्वीप के आरपार एक लोहे का पर्दा पड़ गया है।

4. **सोवियत विस्तारवाद का बढ़ता डर**- पश्चिम में ऐसी विचारधारा तब और भी दुढ़ हो गइ जब सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में अपना प्रभाव फैलाना शुरू कर दिया तथा टर्की, यूनान तथा ईरान पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति के पक्ष में दबाव डालना शुरू कर दिया। विदेश मंत्रियों के लंदन सम्मेलन में जो विरोध पैदा हुआ उसने भी इस विचार को हवा दी कि सोवियत संघ अपनी शक्ति का विस्तार करने वाला था तथा यह कि साम्यवाद स्वतंत्र विश्व के लिए सबसे बड़ा खतरा था।

5. **संयुक्त राज्य की पृथक्कतावाद की नीति का अंत (End of U.S. Policy of Isolationism) :** तात्कालिक सुधारक पत्रों के रूप में अमरीका ने अलगाववाद की अपनी नीति को समाप्त करने का निर्णय किया तथा इसके स्थान पर यूरोप तथा दूसरे स्थानों में फैले शक्ति-शून्य को भरने के लिए कार्य करने का निश्चय किया।

6. **ट्रूमैन सिद्धांत**- मार्च 1947 के ट्रूमैन सिद्धांत ने अमरीका की विदेश नीति में ऐसे परिवर्तन को प्रोत्साहन दिया। इस सिद्धांत के अनुसार यह स्वीकार किया गया कि ''अमरीका की यह नीति होनी चाहिए कि वह उन स्वतंत्र लोगों का समर्थन करें जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों या बाहरी दबाव द्वारा किए जाने वाले दमन का विरोध कर रहे हैं।'' इसके अतिरिक्त यह कहा गया कि यदि विश्व के स्वतंत्र लोगों पर साम्यवादी तानाशाही स्थापित हो गई तो विश्व शांति को खतरा उत्पन्न हो जाएगा तथा परिणामस्वरूप इसके साथ-साथ अमरीकी महाद्वीप की

सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाएगा। ट्रूमैन सिद्धांत को अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति तथा भूमिका को नियंत्रित करने के लिए लाया गया था। इसका उद्देश्य साम्यवाद को नियंत्रित करना तथा बल्कान (Balkans) तथा मध्य पूर्व (Middle East) में सोवियत संघ के विस्तार के प्रयत्नों को रोकना था। व्यावहारिक उपाय के रूप में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अमरीकी सीनेट को कहा कि वह टर्की तथा यूनान को 400 लाख डालर की सहायता दे क्योंकि यह देश अपनी स्वतंत्रता या लोकतांत्रिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। संयुक्त राज्य की सेनिट ने इस मांग को स्वीकार कर लिया तथा इस तरह अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अमरीका के सक्रिय भाग लेने का युग शुरू हो गया। इस परिवर्तन के बाद अमरीका ने ऐसे सभी राज्यों की सहायता करने की नीति बना ली जो सोवियत संघ के साम्यवादी विस्तार के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे।

7. **मार्शल योजना**- मार्शल योजना के अंतर्गत सन 1947 में इसका यूरोपियन रिकवरी प्रोग्राम अमरीका द्वारा समर्पित किया गया। यह युद्ध-पीड़ित यूरोप की सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण सहायता की ओर बड़ा कदम था। वास्तव में, यह यूरोप के राज्यों का मन जीतने तथा उन्हें साम्यवाद से दूर ले जाने का प्रयत्न था। मार्शल योजना का मुख्य उद्देश्य यूरोप को साम्यवाद से बचाना था। पूर्वी यूरोप में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को नियंत्रित करने के साधन के रूप में, यह यूरोप में अमरीका के प्रभाव को बढ़ाने के लिए भी बनाया गया था। तकनीकी रूप से तो सभी राष्ट्र इसमें शामिल हो सकते थे, परंतु वास्तव में यह साम्यवाद विरोधी राष्ट्रों के लिए बनाया गया था।

8. **सोवियत संघ की प्रतिक्रिया तथा प्रति-कायवाहियां -** सोवियत संघ ट्रूमैन सिद्धांत तथा मार्शल योजना से बड़ा उत्तेजित हो गया क्योंकि यह अमरीका के प्रभुत्व को यूरोप में फैलाने तथा दूसरे साम्यवादी देशों को अलग करने के साधन थे। सन 1917 से जब सोवियत संघ में पश्चिमी सेनाओं ने वॉलशैविक क्रांति विरुद्ध, एक और क्रांति करवाने का प्रयत्न किया था तो वह अमरीकी उद्देश्यों के प्रति बहुत शंकित हो गया था। सन 1917 से सन 1941 के बीच उसकी नीति का उद्देश्य सुदृढ़ राष्ट्रीय शक्ति का अड्डा स्थापित करना तथा समाजवादी राष्ट्रों से पूंजीवादी राष्ट्रों के संभावित खतरे का सामना करना था। जर्मनी के प्रति पश्चिमी तुष्टिकरण की नीति ने सोवियत संघ को बहुत नाराज कर दिया था क्योंकि उसने यह अनुभव किया था कि इसका मुख्य उद्देश्य नाजी जर्मनी तथा सोवियत रूस के बीच युद्ध पैदा करना था। उसका जर्मनी के साथ एक अनाक्रमक समझौता करने का निर्णय, पश्चिमी कार्यवाहियों का सामना करने के लिए ही किया गया था।

परंतु सन 1914 में जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया तो सोवियत संघ के पास सिवाय मित्र-राष्ट्रों के साथ मिलकर युद्ध में भाग लेने के कोई चारा नहीं था। 1942 ई. से 1945 ई. के दौरान जर्मनी हो हराने के लिए सोवियत संघ ने पश्चिमी शक्तियों के साथ सहयोग किया तथापित इस तरह के सहयोग से उसे यह आशा कदापि नहीं हुई थी कि पश्चिमी शक्तियां साम्यवादी संघ के साथ सह अस्तित्व के लिए तैयार होंगी। परिणामस्वरूप, सोवियत संघ ने दूसरे विश्व युद्ध में अपनी विजय को यूरोप में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रयोग करने का निश्चय किया तथा कई पूर्वी राज्यों का सफलतापूर्वक रूपातंरण हो जाने से इसके विचारों को शक्ति मिली। शांति संधियों, जर्मनी का भविष्य, बर्लिन समस्या पर पश्चिमी शक्तियों के साथ विरोध उत्पन्न हो जाने के कारण सोवियत संघ ने विश्व राजनीति में अपना प्रभाव बढ़ाने की आवश्यकता को और अधिक अनुभव करना शुरू कर दिया। अमरीका का अपने आपको केवल मात्र अकेले ही परमाणु बम रखने वाले राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्नों को सोवियत संघ ने चेतावनी समझा। उसने यह निष्कर्ष निकाला कि ट्रूमैन सिद्धांत तथा मर्शल प्लैन के अनुसार अमरीका के नेतृत्व वाली पश्चिमी शक्तियां उसको अलग करने पर तुली हुई थी। परिणामस्वरूप सोवियत नेताओं ने पश्चिमी कार्यवाहियों का प्रत्युत्तर देने का निर्णय किया।

4.6.2 शीत युद्ध का पहला दौर 1947-53

एकीकरण के प्रयत्न- शीत युद्ध के पहले दौर में अर्थात् 1947 ई. से 1953 ई. (स्टालिन की मृत्यु) तक सोवियत संघ तथा अमरीका दोनों ने यूरोप पर अपना-अपना प्रभाव स्थापित करने के बहुत प्रयत्न किय। परिणामस्वरूप यूरोप, विशेषतया जर्मनी, शीत युद्ध का मुख्य केंद्र बन गया। जर्मनी, जापान, आस्ट्रिया तथा बर्लिन शांति समस्या तथा कोरिया के युद्ध के विषयों ने ऐसा वातावरण पैदा कर दिया जिसमें दोनों महाशक्तियां अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में अपना-अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयत्न करने लगीं।

1. **शीत युद्ध केंद्र के रूप में जर्मनी-** सोवियत संघ ने जर्मनी से संबंधित एक ऐसी नीति अपनाई जिसका पश्चिमी शक्तियों ने विरोध किया। फैडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी तथा जर्मन डैमोक्रेटिक रिपब्लिक, इन दो भागों में जर्मनी का बंटवारा इसलिए हुआ ताकि सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियां दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में अपना-अपना प्रभाव बनाये रख सकें। मार्शल प्लैन तथा कोमीकान की नीतियों ने यूरोप को सोवियत संघ तथा अमरीका के मध्य शीत युद्ध में फंसा दिया। अमरीका की संगठित प्रचार-युद्ध नीति के कारण ही सोवियत संघ ने प्रतिकार्यवाही के रूप में कोमिनफार्म का संगठन किया।
2. **वर्लिन की समस्या तथा शीत युद्ध (Berlin Issue and Cold War) :** सन 1948 में सोवियत संघ तथा पश्चिमी शक्तियों के मध्य शीत युद्ध का आरंभ सोवियत संघ द्वारा पूर्वी जर्मनी की नाकाबंदी के रूप में हुआ। पश्चिमी क्षेत्र तथा बर्लिन शहर में नई मुद्रा शुरू करने के निर्णय के परिणामस्वरूप बर्लिन में पश्चिमी हस्तक्षेप को कम करने के विचार से सोवियत संघ ने अपने अधिकृत क्षेत्र में आर्थिक सुधार तुरंत लागू करने का निर्णय किया तथा इसे लागू करने के एक भाग के रूप में नई पूर्वी क्षेत्र की मुद्रा को सारे बर्लिन में लागू करने का निर्णय किया। बर्लिन में पश्चिमी मुद्रा और वस्तुओं के आयात को रोकने के लिए सोवियत संघ ने बर्लिन की नाकांबंदी कर दी जिसके प्रत्युत्तर में पश्चिमी शक्तियों ने बर्लिन ऐयरलिफट योजना (Berlin Airlift Plan) को आरंभ किया। इससे वास्तव में उस समय संकट तथा गतिरोध पैदा हो गया जब मास्को ने नामाबंदी उठाने से तथा अमरीका ने ऐयरलिफट (Airlift) समाप्त करने से इंकार कर दिया। सोवियत संघ इस जिद्द पर अड़ा था कि पश्चिमी शक्तियों को बर्लिन खाली कर देना चाहिए तथा अमरीका ने तब तक बर्लिन न छोड़ने के अपने निश्चय की घोषणा कर दी जब तक जर्मनी को फिर से एक नहीं कर दिया जाता। इस तरह के विरोधी निश्चयों ने बर्लिन के संबंध में होने वाले सभी सम्मेलनों को बुरी तरह असफल कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किए प्रयत्न भी असफल रहे क्योंकि सोवियत संघ तथा अमरीका दोनों के पास वीटो शक्ति थी। मई 1948 को सोवियत संघ नाकाबंदी उठाने को सहमत हो गया परंतु इससे कोई अच्छा परिणाम नहीं निकला क्योंकि तब तक बहुत देर हो चुकी थी। इस नाकाबंदी से सोवियत संघ तथा अमरीका में मतभेद और अधिक गहरे हो गये।
3. **नाटो की स्थापना एवं जर्मनी का विभाजन**- इसके तात्कालिक परिणाम के रूप में अमरीका तथा इसके मित्र राष्ट्रों द्वारा 4 अप्रैल, 1949 को नाटो (NATO) की स्थापना की गई तथा इसके पश्चात 21 सितंबर, 1949 को फैडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी (Federal Republic of Germany) की स्थापना की गई। सोवियत संघ द्वारा इसका प्रत्युत्तर 7 अक्तूबर, 1949 को मिला जब उसने पूर्वी जर्मनी के अपने अधिकृत क्षेत्र को 'जर्मन डैमोक्रेटिक रिपब्लिक' (German Democratic Republic) बनाने की घोषणा कर दी।
4. **साम्यवादी चीन का उद्‌भव एवं शीत युद्ध**- सन् 1949 में चीन में माओ के साम्यवादी दल को सत्ता मिलने से विश्व में सोवियत साम्यवादी प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई तथा इसके साथ ही अमरीका ने साम्यवाद पर नियंत्रण करने के अपने वायदे को और सुदृढ़ता से निभाने का प्रण किया।

5. **कोरिया की समस्या तथा शीत युद्ध**– सन् 1950 में कोरिया के युद्ध ने सुदूर पूर्व में शीत युद्ध के शुरू होने के लिए जगह तैयार कर दी। दक्षिणी कोरिया के विरुद्ध उत्तरी कोरिया के आक्रमणों से पैदा हुई स्थिति ने अमरीका तथा पश्चिमी शक्तियों को लोकतांत्रिक दक्षिणी कोरिया की साम्यवादी उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सहायता करके साम्यवाद पर नियंत्रण करने का अवसर प्रदान कर दिया। कोरिया के युद्ध में उत्तरी कोरिया को सोवियत संघ तथा साम्यवादी चीन का समर्थन प्राप्त था। जबकि दक्षिणी कोरिया को अमरीका तथा बाकी की पश्चिमी शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि कोरिया में सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था लागू करने की आवश्यकता है, परंतु सोवियत संघ ने इसका कड़ा विरोध किया। कोरिया में शांति की समस्या ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को स्पष्ट रूप से विभाजित कर दिया। परिणामस्वरूप युद्ध के स्थान पर अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा स्थापित करने के लिए अपने उत्तरदायित्व में सुरक्षा परिषद् असफल हो गई। इसी समय संयुक्त राष्ट्र की जनरल असैम्बली ने 'शांति के लिए एक हो जाओ' के प्रस्ताव (Uniting for Peace Resolution) को कार्य रूप दिया तथा इसकी प्रक्रिया में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गुट निरपेक्ष राष्ट्रों द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका का महत्व सामने आया। दोनों महा शक्तियों ने यह अनुभव किया कि शीत युद्ध को जीतने के लिए गर्म युद्ध की उपेक्षा की जानी चाहिए तथा शांत रहना चाहिए। इस तरह अनुभव के कारण ही जुलाई 1951 में कोरिया में युद्ध विराम हुआ।

6. **कोरिया में युद्ध की समाप्ति परंतु शीत युद्ध का बने रहना**– कोरिया के युद्ध विराम के बाद अमरीका तथा सोवियत सेनाएं कोरिया में ही विद्यमान रहीं तथा शीत युद्ध की स्थिति बनी रही। अमरीका ने साम्यवाद के विरुद्ध अपना प्रचार तेज कर दिया तथा सोवियत संघ ने साम्यवाद को लोकप्रिय बनाने के लिए कोशिशें बढ़ा दीं। अणु बम के रहस्य को पा लेने में सोवियत संघ की सफलता ने उसके प्रभाव को बढ़ा दिया तथा वह भी अमरीका के साथ शस्त्रों की दौड़ में शामिल हो गया। इन परिस्थितियों ने भी शीत युद्ध की गहनता में वृद्धि कर दीं। इससे निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयास बुरी तरह से असफल हो गए।

7. **जापान के साथ शांति संधि की समस्या तथा शीत युद्ध**– 1947 ई. से 1953 ई. के दौरान शीत युद्ध में हुई पूर्व वर्णित घटनाओं के अतिरिक्त जापान के साथ शांति संधि की समस्या ने भी यह स्पष्ट कर दी कि सोवियत संघ तथा अमरीका दोनों अपने-अपने संबंधों में शीत युद्ध को जारी रखना चाहते हैं। जापान के साथ शांति संधि पर विचार करने तथा उसे सहमति देने के लिए अमरीका ने सितंबर 1951 में सान फ्रांसिसको सम्मेलन बुलाने का निर्णय किया जिसका सोवियत संघ ने कड़ा विरोध किया। परंतु सोवियत संघ का विरोध यह संधि करने के लिए अमरीका के रास्ते में बाधा नहीं बस सका। शांति-संधि के बाद जापान के साथ अमरीका ने एक प्रतिरक्षा संधि (Defence Treaty) की। इससे उसे जापान में अपनी सेनाएं रखने का अधिकार मिल गया। इस संधि तथा अमरीका की ताईवान (Taiwan) के साथ संधि का स्वरूप इस तरह का था कि सोवियम संघ तथा चीन पर दबाव डाला जा सके तथा साम्यवाद के विस्तार को रोका जा सके। इस तरह 1947 ई. से 1953 ई. तक सोवियत संघ तथा अमरीका के संबंधों में शीत युद्ध चलता रहा। इस शीत युद्ध के कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंध बुरी तरह से तनावपूर्ण बने रहे।

4.6.3 शीत युद्ध का दूसरा दौर 1953-63

1953 ई. से 1963 ई. तक के समय में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत युद्ध के तनाव बने रहे जो इस प्रकार हैं-

1. **सीटो एवं वार्सा पैक्ट**– शीत युद्ध के इस दौर में अमरीका ने सामाजिक तथा आर्थिक आक्रमण करने की नीति को अपनाए रखा। नाटो के समान इसने सीटो तथा मीडो (SEATO & MEDO) का संगठन किया। ये संगठन क्रमशः दक्षिणी पूर्वी एशिया तथा मध्य पूर्व में साम्यवाद के प्रचार को रोकने के लिए बनाए गए थे।

इस तरह की अमरीकी चेष्टाओं के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ 14 मई, 1955 को एक साम्यवादी प्रतिरक्षा समझौता (Communist Defence Pact) करने में सफल हो गया जिसे वार्सा पैस्ट (Warsaw Pact) का नाम दिया गया। इसमें पूर्वी यूरोपीय समाजवादी राज्य शामिल थे। इसका उद्देश्य साम्राज्यवाद तथा पूंजीवाद के आक्रमणों को रोकना था। इससे अमरीकी ब्लॉक या लोकतांत्रिक ब्लॉक के विरुद्ध सोवियत ब्लॉक अथवा साम्यवादी ब्लॉक की स्थापना हो गई। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था दो भागों में विभाजित हो गई-अमरीकी गुट तथा सोवियत गुट तथा दोनों के मध्यम शीत युद्ध बना रहा। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में ऐसे द्वि-धुव्रीकरण ने शीत युद्ध की गहराई तथा शक्ति को और बढ़ा दिया।

2. **परमाणु अस्त्र-दौड़ तथा शीत युद्ध**- अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच परमाणु अस्त्रों के प्रादुर्भाव ने तथा बाद में अंतरिक्ष दौड़ ने शीत युद्ध को और भी भयानक बना दिया। दोनों महाशक्तियों द्वारा ''अतिविनाशक शक्ति'' के विकास के कारण बहुत भयंकर स्थिति पैदा हो गई जिससे निःशस्त्रीकरण के संबंध में बैठकें तो हुई परंतु सब असफल रहीं। सितंबर 1953 में पश्चिमी गुट द्वारा अयुद्ध समझौते (No-war-Pact) का प्रस्ताव किया गया, जिसे सोवियत संघ ने अस्वीकार कर दिया। मार्च 1954 में नाटो (NATO) में शामिल होने की सोवियत संघ की इच्छा की पश्चिमी शक्तियों ने उपेक्षा कर दी। जनवरी 1956 में सोवियत प्रधानमंत्री बुलगेनिन (Bulganin) ने शांति, मित्रता तथा सहयोग के लिए सोवियत संघ-अमरीका संधि का प्रस्ताव किया परंतु इन प्रयत्न को पश्चिम के देशों से सकारात्मक स्वीकृति नहीं मिली।

3. **हंगरी की समस्या तथा शीत युद्ध**- सन 1956 में हंगरी में सोवियत संघ के हस्तक्षेप का पश्चिमी शक्तियों द्वारा कड़ा विरोध किया गया। परंतु सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोपीय राज्यों के इर्द-गिर्द अपना लोहे का पर्दा कायम रखा। परंतु सन 1956 में स्वेज नहर (Suez Canal) युद्ध के दौरान अमरीका तथा सोवियत संघ ने अपने आपको अनजाने में ही सहयोगी पाया।

4. **स्वेज समस्या एवं शीत युद्ध**- स्वेज नहर पर बलपूर्वक आधिपत्य जमाने के लिए किए गए ऐंग्लो-फ्रैंच यहूदी (Anglo-French Jewish) आक्रमण को अमरीका ने बहुत नासंपद किया क्योंकि उसने यह अनुभव किया कि यह युद्ध मिस्र तथा दूसरे (मध्यपूर्व) मुस्लिम देशों को सोवियत सहायता लेने के तथा सोवियत संघ के प्रभाव के नीचे रहने के लिए बाध्य कर देगा। इसलिए अमरीका चाहता था कि यह युद्ध समाप्त हो जाए। सोवियत संघ को स्वेज नहर की समस्या में मिस्र का साथ देकर मध्य पूर्व में अपना प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया। इसलिए उसने मिस्र पर आक्रमण बंद करने के लिए कहा तथा तत्काल बाद ही उसने यह भी धमकी दे दी कि अगर ब्रिटेन, फ्रांस तथा इसराईल ने युद्ध समाप्त न किया तो वह परमाणु शस्त्रों का प्रयोग शुरू कर देगा। इस प्रकार अमरीका तथा सोवियत संघ अलग आधारों पर एक जैसे निष्कर्ष पर पहुंचे। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्र संघ के कहने पर युद्ध विराम कर दिया तथा इस प्रकार सन् 1956 का स्वेज युद्ध समाप्त हो गया परंतु अमरीका तथा सोवियत संघ में शीत युद्ध बना रहा तथा मध्य पूर्व में इसे एक केंद्र प्राप्त हो गया।

5. **आईजनहावर का सिद्धांत एवं शीत युद्ध**- जून 1957 में आईजनहावर सिद्धांत जिसके अंतर्गत अमरीका की कांग्रेस (Congress) ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया कि वह साम्यवाद के खतरे को नियंत्रित करने के लिए अमरीकी सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग कर सकता है, शीत युद्ध को और बढ़ावा दिया। राष्ट्रपति आईजनहावर की अवधि के अंतिम दो वर्षों के भीतर शीत युद्ध अमरीका तथा सोवियत संघ के संबंधों की विशेषता बना रहा। जर्मनी, बर्लिन, हिंद-चीन, कोरिया, जापान तथा मध्य पूर्व शीत युद्ध का मुख्य केंद्र बने रहे।

6. **खुश्चेव की अमरीका यात्रा-शांति की नई आशा**- 1957-58 ई. में सोवियत प्रधानमंत्री खुश्चेव पूर्व तथा पश्चिम के बीच शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का खुले रूप में समर्थन करने लगे। उन्होंने युद्ध को त्यागने तथा अंतर्राष्ट्रीय अंतक्रियाओं में शांतिपूर्ण सहयोग की अपनी इच्छा को अभिव्यक्त किया। वह अमरीका जाने के

लिए तथा अमरीकी राष्ट्रपति आईजनहावर से मिलकर दोनों देशों अमरीका–सोवियत संघ के मतदभेदों को दूर करने के लिए भी तैयार हो गये। यह एक अच्छा परिवर्तन था। विशेषतया जब अमरीका ने ख्रुश्चेव को निमन्त्रण भेजने का निश्चय किया। 28 सितम्बर, 1959 को ख्रुश्चेव ने अमरीका का दौरा किया तथा राष्ट्रपति आईजनहावर से महत्वपूर्ण बातचीत भी की। ख्रुश्चेव के इस दौरे ने अंतर्राष्ट्रीय वातावरण को सुखद बनाया। इसके बाद एक और सार्थक परिवर्तन उस समय हुआ जब अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटने तथा फ्रांस चारों शक्तियों में जून 1960 में पैरिस शिखर सम्मेलन बुलाने के लिए एक समझौता हुआ।

7. **यू–2 की घटना एवं शीत युद्ध का नवीकरण-** दुर्भाग्य से शिखर सम्मेलन के केवल कुछ दिन पहले एक मई को U-2 विमान घटना हो गई तथा सन 1958 से विकसित हो रहा सारा वातावरण फिर से दूषित हो गया। U-2 अमरीका का एक जासूसी जहाज था जिसे सोवियत संघ सेनाओं ने मार गिराया था। सोवियत संघ अमरीका से बहुत नाराज हो गया तथा उसने मांग की कि अमरीका इसके लिए माफी मांगे तथा भविष्य में सोवियत संघ में जासूसी न करने का आश्वासन दे। अमरीका सोवियत संघ की इस मांग के पक्ष में नहीं था इसलिए U-2 घटना ने एक बार फिर अमरीका–सोवियत संबंधों को तनावपूर्ण तथा क्षुब्ध बना दिया।

8. **पैरिस शिखर सम्मेलन की असफलता तथा शीत युद्ध-** 16 मई, 1960 को इसी घटना की छाया तले पैरिस शिखर सम्मेलन हुआ। इस आश्वासन की अवहेलना करते हुए कि U-2 .की घटना का मामला शिखर सम्मेलन में नहीं उठाया जाएगा, ख्रुश्चेव ने अमरीका से माफी की फिर मांग की तथा विरोध को प्रकट करने के लिए उसने राष्ट्रपति आईजनहावर से हाथ मिलाने से इंकार किया। इन परिस्थितियों में पैरिस शिखर सम्मेलन में कोई निर्णय नहीं लिया जा सका तथा अमरीका तथा सोवियत संघ के संबंधों के बीच शीत युद्ध अपने पहले रूप में चलता रहा।

9. **1961 का बर्लिन दीवार संकट तथा शीत युद्ध-** सन 1960 में श्री कैनेडी अमरीका के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए। वे 22 नवंबर, 1963 तक राष्ट्रपति बने रहे। पहले U-2 घटना द्वारा हुई संबंधों में हानि को सुधारने की कोशिश की गई, परंतु इन प्रयत्नों से कोई भी बहुत सफलता नहीं मिली। इसके विपरीत सन 1961 के बर्लिन दीवार संकट तथा क्यूबन मिसाईल संकट ने सोवियत संघ तथा अमरीका को लगभग गर्म युद्ध के किनारे ला खड़ा किया। अगस्त 1961 को बर्लिन शहर के पश्चिमी क्षेत्रों को सोवियत अधिकार वाले क्षेत्रों से अलग करने के लिए सोवियत संघ द्वारा बनाई जाने वाली दीवार का अमरीका ने कड़ा विरोध किया। अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ने मोर्चों पर अपने–अपने टैंक ला खड़े किए तथा युद्ध संभावित हो गया। परंतु दोनों की सबुद्धि आ गई तथा इस तनाव को समाप्त करने के लिए दोनों ने कई कदम उठाए।

10. **शीत युद्ध गर्म युद्ध की ओर–क्यूबन मिसाईल संकट-** अक्तूबर 1962 में दोनों महाशक्तियों के मध्य एक वास्तविक समस्या, क्यूबन मिसाईल संकट (Cuban Missile Crisis) पैदा हो गया जिसने दोनों को युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया। सोवियत संघ द्वारा क्यूबा में एक मिसाईल अड्डा बनाने के निर्णय का अमरीका ने कड़ा विरोध किया और जब सोवियत संघ के मिसाईल ले जाने वाले जहाज ब्यूबा के रास्ते पर थे तो अमरीका ने क्यूबा में उनका प्रवेश रोकने के लिए क्यूबा पहुंचने वाले सभी सैनिक साजोसामान की नाकेबंदी (Blockade) या कठोर संगरोधन (Strict Quarantine) का आदेश दे दिया। अमरीकी सरकार ने यह घोषणा कर दी कि पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी भी देश के विरुद्ध, क्यूबा से छोड़े जाने वाले किसी भी मिसाईल को सोवियत संघ द्वारा अमरीका पर आक्रमण माना जाएगा तथा जिसका उचित प्रतिकारात्मक प्रत्युत्तर दिया जाएगा। 23 अक्तूबर, 1962 को अमरीका ने अमरीकी महाद्वीप की शांति तथा सुरक्षा को किसी भी प्रकार के खतरे की संभावना को समाप्त करने का निश्चय किया। 24 अक्तूबर, 1962 को क्यूबा की बंदरगाहों की अमरीकी नाकाबंदी प्रभावशाली हो गई। अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच युद्ध लगभग निश्चित हो गया।

संयुक्त राष्ट्र के जनरल सैक्रेटरी मिस्टर यू. थांट ने अमरीका को नाकाबंदी समाप्त करने के लिए सहमत करने के प्रयत्न किए तथा सोवियत संघ को क्यूबा में जहाज भेजने से रोकने को कहा परंतु वे इस गतिरोध को समाप्त करने में असफल रहे। सोवियत संघ ने टर्की में से अमरीका को अपने राकेट हटा लेने की मांग की। यह क्यूबा में सोवियत मिसाईल लगाने से रोकने के लिए पूर्व शर्त थी। अमरीका ने इस मांग को स्वीकार कर दिया। अंत में कुछ बहुत उत्तेजित दिनों के बाद सोवियत संघ अपने मिसाईल ले जाने वाले जहाजों का रास्तो मोड़ने तथा क्यूबा के मिसाईल क्षेत्रों को विखंडित (Dismantle) करने को सहमत हो गया। इस तरह भयानक क्यूबा मिसाईल संकट बहुत संघर्ष के पश्चात समाप्त हो गया।

11. **शीत युद्ध के तनावों को कम करने के प्रयत्न**- क्यूबन मिसाईल संकट एक अप्रत्यक्ष वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि इसमें दोनों महाशक्तियां शीत युद्ध के इस खतरे से अवगत हो गई कि यदि शीत युद्ध और चलाया गया तो यह पूर्णतया विध्वंसक गर्म युद्ध में उन्हें धकेल सकता था। दोनों ने आपसी संबंधों में अभिवृद्धि की तथा वाशिंगटन तथा क्रैम्मलिन के मध्य प्रत्यक्ष तथा नियमित संचार व्यवस्था की आवश्यकता को स्वीकार किया गया। इस उद्देश्य के लिए दोनों देशों की राजधानियों के बीच एक सीधा संपर्क हॉट लाइन (Hot line) द्वारा कार्य करने का निर्णय किया गया तथा उसे उसी समय लागू कर दिया गया। इसके पश्चात 5 अगस्त, 1963 को अमरीका-सोवियत संघ तथा ब्रिटेन के मध्य मास्को पार्शियल टैस्ट बैन सन्धि (Moscow Partial Test Ban Treaty) की गई। इस सन्धि के द्वारा वातावरण में अनियंत्रित परमाणु धमाके करने पर रोक लग गई। यह शस्त्र नियंत्रण की ओर सीमित परंतु सकारात्मक पग था। अमरीका ने भी शीत युद्ध के बढ़ते खतरे को तथा व्यर्थ की दौड़ तथा प्रतिद्धन्द्धिता को जो इससे पैदा होती थी को अनुभव कर लिया। साम्यवादी तथा पूंजीवादी दोनों प्रकार के देशों के साथ सहयोगपूर्ण तथा मित्रतापूर्ण संबंध बनाने के प्रति विभिन्न गुट निरपेक्ष राष्ट्रों की सफलता ने भी सोवियत संघ ब्लाक तथा अमरीकी ब्लाक के मध्य संबंधों की अनुपयुक्तता को उजागर किया। द्विपक्षीय ध्रुवीकरण में प्रत्यावर्तन तथा दोनों गुटों के सदस्यों के बीच संबंधों में सुधार के लिए प्रेरित किया। इस तरह के विचारों ने ही इस आशा को जन्म दिया कि दोनों महाशक्तियां सन 1963 के बाद के समय अपने संबंध शांतिपूर्ण तथा सहयोगपूर्ण बनाने के लिए प्रयत्न करेंगी। परंतु ऐसा हो नहीं पाया।

4.6.4 शीत युद्ध का तीसरा दौर 1963-1970

1963 के बाद के काल में अमरीका तथा सोवियत संघ झूमा-झूमी का खेल खेलते रहे। कभी-कभी ये दोनों परिपक्व राज्यों की तरह व्यवहार करते हुए पारस्परिक संबंधों को शांतिपूर्ण बनाने के लिए कार्य करते रहे तो कभी-कभी वे अपने संबंधों का संचालन शीत युद्ध की भावना से ही करते रहे। 1963 से 1970 के दौरान वियतनाम, दक्षिणी एशिया, मध्य पूर्व संयुक्त राष्ट्र संघ तथा बर्लिन में शीत युद्ध विद्यमान रहा परंतु इसके साथ ही एक दूसरे का देश में आना जाना, शिखर बैठकें, 1968 में परमाणु प्रसार निषेध सन्धि (Non-Proliferation Treaty) तथा कई दूसरे सकारात्मक परिवर्तन हुए।

1. **अमरीका तथा सोवियत संघ के नेतृत्व में परितर्वन तथा शीत युद्ध**- नवंबर, 1963 को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या हो गई तथा एल.बी. जॉनसन अमरीका के राष्ट्रपति बने। अक्तूबर 1964 में सोवियत संघ में खुश्चेव पदच्युत कर दिए गए तथा उनके स्थान पर ब्रजनेव तथा कोसीगिन दो शक्तिशाली नेता सत्ता में आए।
2. **भारत-पाक युद्ध तथा शीत युद्ध**- 1964 में वियतनाम में सैनिक कार्यवाही की शक्ति में वृद्धि करने के बारे राष्ट्रपति जॉनसन के निर्णय का सोवियत संघ ने कड़ा विरोध किया। 1965 में भारत-पाक युद्ध शुरू हो गया तथा दोनों अमरीका, तथा सोवियत संघ, ने विरोधी पक्ष लिए। भारत तथा पाकिस्तान के बीच सोवियत संघ की मध्यस्थता की भूमिका अमरीका को बहुत खली।

3. **1967 ई. का अरब-इसरायल युद्ध तथा शीत युद्ध**-1967 ई. में अरब-इसरायल युद्ध में पश्चिमी शक्तियों की इसरायल के पक्ष में नीतियों के विरूद्ध सोवियत संघ खुले रूप से तथा दृढ़ता से सामने आया। सोवियत संघ ने इस अवसर का प्रयोग अरबों के साथ एकता की अभिव्यक्ति के लिए तथा इस तरह मध्य पूर्व में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए किया। एक बार फिर मध्यपूर्व में अपने-अपने प्रभाव की दृढ़ता बढ़ाने की प्रतियोगिता ने अमरीका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध की गहना में वृद्धि कर दी। परंतु इसके साथ ही दोनों देशों के नेताओं ने पारस्परिक संबंधों को बढ़ाने की व्यवस्था को भी चालू रखा।
4. **तनावों को कम करने का एक प्रयत्न-ग्लासब्रो शिखर सम्मेलन**- 23 जून से 26 जून, 1967 तक ग्लोसब्रो के शिखर सम्मेलन में सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन तथा अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन (Johnson) मिले। उन्होंने वियतनाम तथा मध्यपूर्व पर विचारों का आदान-प्रदान किया। शिखर सम्मेलन चीन की बढ़ती परमाणु शक्ति की परछाई तले हुआ। चीन ने सन 1967 में हाइड्रोजन बम का सफल परीक्षण किया था। इस शिखर सम्मेलन से दोनों देशों के पारस्परिक संबंधों की समस्याओं, विश्व की मुख्य समस्याओं तथा अंतर्राष्ट्रीय विषयों की अच्छी तरह समझने में बहुत सहायता मिली। परमाणु अप्रसार सन्धि (1968) (Neculear Non-Proliferation Treaty 1968) ने अमरीका तथा सोवियत संघ के संबंधों को और मधुर बनाने में सहायता की। वियतनाम पर बमबारी न करने के अमरीका के निर्णय ने वातावरण में तनाव को कम कर दिया। परंतु चकोस्लोवाकिया में 1968 ई. में सोवियत संघ का हस्तक्षेप तथा 1969 ई. में बर्लिन की नाकेबंदी ने शीत युद्ध के दौर को जीवित रखा।
5. **बर्लिन दीवार संकट-1969 तथा शीत युद्ध**- मार्च 1969 में बर्लिन एक बार फिर अमरीका तथा सोवियत संघ के संबंधों में शीत युद्ध के तनावों का कारण बन गया। पश्चिमी जर्मनी की सरकार के इस निर्णय का कि फैडरल रिपब्लिक ऑफ़्र जर्मन के चांसलर का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में ही किया जाए, सोवियत संघ तथा जर्मन डैमोक्रेटिक रिपब्लिक ने कड़ा विरोध किया। इसका आधार यह बनाया गया कि इस तरह का पत्र उठाने से यह प्रतीत होगा कि बर्लिन पश्चिमी जर्मनी का एक ही भाग है तथा ऐसा पोट्सडैम समझोते के विरुद्ध होगा। फैडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी द्वारा चुनाव बर्लिन में ही करने की दृढ़ता के कारण जर्मन डैमोक्रेटिक रिपब्लिक ने बर्लिन की नाकाबंदी कर दी। तब फैडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी ने चुनाव मंडल के सदस्यों को हवाई जहाजों द्वारा बर्लिन पहुंचा कर चुनाव संपन्न किया और चुनाव की शांतिपूर्ण समाप्ति ने संकट को टाल दिया। सोवियत संघ तथा जर्मन डैमोक्रेटिक रिपब्लिक ने अपने विरोध को और आगे नहीं बढ़ाया क्योंकि उन्हें यह अनुभव हो गया था कि इसका कोई लाभ नहीं होगा।
6. **दीतां का विचार**- इस तरह 1953 ई. से 1970 ई. तक समस्त विश्व, पूर्व तथा पश्चिम, विशेषतया सोवियत संघ तथा अमरीका के बीच शीत युद्ध के तनावों के साथ ही जीवित रहा। केवल एक अच्छी बात जो सोवियत संघ तथा अमरीका के बीच शुत युद्ध के तनावों के साथ ही जीवित रहा। केवल एक अच्छी बात तो सोवियत संघ और अमरीका की अन्तक्रियाओं से पैदा हुई वह यह थी कि शीत युद्ध को समाप्त करने के लिए या कम से कम इसके तनावों तथा खतरों को कम करने की इच्छा के पक्ष में सकारात्मक विचार तथा पारस्परिक संपर्क तथा सहयोग को विकसित करने के विचार पैदा हो गए। इस तरह के निर्णय को कई तत्वों ने सहायता दी। क्यूबा मिसाइल संकट (Cuban Missile Crisis) ने दोनों महाशक्तियों को शीत युद्ध के असीमित तथा अनियंत्रित खतरों के प्रति सचेत कर दिया। गुट-निरपेक्ष आंदोलन के प्रादुर्भाव तथा परिणामस्वरूप इसकी शक्ति से अमरीका तथा सोवियत संघ के गुटों की कमजोर स्थिति चीन तथा फ्रांस का दो बड़ी सैनिक शक्तियों के रूप में प्रादुर्भाव, जापान तथा जर्मना (पश्चिमी) का बड़ी आर्थिक शक्तियों के रूप में उभरना, पश्चिमी यूरोप का आर्थिक एकीकरण तथा परिणामस्वरूप इसके शक्ति स्तर में सुधार तथा एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका में आई जागृति इन सब ने अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन ला दिए जिन्होंने दोनों महाशक्तियों को दीतां अर्थात तनाव शैथिल्य के संबंध में सोचने के लिए बाध्य कर दिया।

4.7 अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर शीत युद्ध का प्रभाव (Impact of Cold War on International Politics)

उत्तर–युद्ध काल में शीत युद्ध की उत्पत्ति ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति तथा व्यहवहार को गहरे रूप में प्रभावित किया। 1945–70 के वर्षों के दौरान चले लगातार शीत युद्ध ने इस प्रभाव को और भी गहन स्वरूप दिया। इस समय के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की निम्नलिखित विशेषताएं शीत युद्ध के प्रभाव को स्पष्ट प्रकट करते हैं :

(1) विश्व में दो परस्पर विरोधी एवं प्रतियोगी महाशक्तियों–अमरीका एवं सोवियत संघ–का जन्म हुआ।

(2) यूरोपीय देश शीत युद्ध के प्रभावाधीन पश्चिमी यूरोप तथा पूर्वी यूरोप में बंट गए।

(3) शक्ति–राजनीति तथा सैनिक गठबंधनों की राजनीति अंतर्राष्ट्रीय संबधों की कड़वी सच्चाई बन गई।

(4) अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति एवं रक्षा एक उद्देश्य बन गया परंतु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये वातावरण असहायक तथा कठोर बन गया।

(5) शस्त्र–दौड़, विशेषकर परमाणु शस्त्र दौड़ की गति काफी तेज हो गई तथा शस्त्र–नियंत्रण तथा नि:शस्त्रीकरण का मुद्दा बहुत जटिल रूप ले गया।

(6) शीत युद्ध के प्रभाव में विश्व स्तर पर निर्णय–निर्माण विशेष कर संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में निर्णय–निर्माण का कार्य बहुत कठिन बन गया।

(7) विश्व दो विरोधी गुटों–अमरीकी गुट तथा सोवियत गुट में बंट गया। विश्व शक्ति संरचना द्विध्रुवीय बन गई।

(8) शक्ति संतुलन का स्थान आतंक सतुंलन ने ले लिया।

(9) शीत युद्ध, सैनिक गठनबंधनों तथा शक्ति राजनीति से दूर रहने के लिए बहुत से एशिया तथा अफ्रीका के नये राज्यों ने गुट निरपेक्षता की विदेशी नीति को अपना लिया तथा 1960 के दशक में विश्व में गुट निरपेक्षता आंदोलन ने जन्म लिया।

(10) विश्व में उपनिवेशवाद विरोधी प्रक्रिया का जन्म हुआ तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों ने सफलता प्राप्त करनी आरंभ कर दी।

(11) साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद नव–उपनिवेशवाद में परिवर्तित होने लगे।

(12) विश्व राजनीति में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक संबंधों की राजनीति को अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने लगा।

(13) अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्र नीति के आर्थिक उपकरणों की भूमिका बढ़ने लगी।

(14) दोनों महाशक्तियों में विद्यमान शीत युद्ध ने संयुक्त राष्ट्र के अधीन स्थापित सामूहिम सुरक्षा व्यवस्था को व्यवहार में लागू किया जाना बहुत कठिन बना दिया।

(15) विश्व राजनीति में स्थानीय युद्धों तथा परोक्ष युद्धों (Local Wars and Proxy Wars) की राजनीति अस्तित्व में आ गई।

(16) विश्व राजनीति में प्रचार तथा मनोवैज्ञानिक तथा राजनीतिक युद्ध–कौशलों का प्रयोग बढ़ गया।

(17) अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था नये स्वतंत्र प्रभुसत्ता संपन्न राज्यों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई तथा विश्व राजनीति में एशिया, अफ्रीका तथा लातीनी अमरीका की भूमिका को बल मिला। इस प्रकार शीत युद्ध ने उत्तर–युद्ध काल के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की प्रकृति को विशाल एवं गहरे रूप में प्रभावित किया। विश्व राजनीति ने शीत युद्ध राजनीति का रूप ले लिया।

4.8 शीत युद्ध का पतन और दीन्ता (शान्ति) का युग 1970-1980

अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच दीतां (Detente) 1970-1980 के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की विशेषता बनी। शीत युद्ध के ह्रास की प्रक्रिया के साथ दीतां (Detente) के प्रादुर्भाव से बहुत से महत्वपूर्ण परिवर्तनों के आने में सहायता की। एक ओर तो युद्धोत्तर काल की कई समस्याएं तथा मामले शांतिपूर्ण ढंगों से निपटाए गए तथा दूसरी ओर अमरीका तथा चीन के बीच मेल मिलाप शुरू हुआ। दुर्भाग्यवश इन सारे परिवर्तनों के साथ चीन तथा सोवियत संघ के बीच मतभेदों में वृद्धि हुई। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत युद्ध के ह्रास की प्रक्रिया तथा इसके परिणामस्वरूप दीतां (Detente) के प्रादुर्भाव की समीक्षा सन् 1970 से लेकर सन 1980 तक के समय में निम्नलिखित सहायक तथा सकारात्मक परिवर्तनों की सहायता से की जा सकती है:-

1. **1970 ई. का मास्को-बॉन समझौता-** 12 अगस्त 1970 को कोसिजिन तथा विली ब्रांड के मध्य मास्को-बॉन समझौता किया गया। जिसमें दोनों ने जर्मनी के संबंध में यथापूर्व स्थिति को स्वीकार कर लिया तथा एक पारस्परिक अनाक्रमक समझौता तथा शक्ति प्रयोग न करने का निर्णय हुआ। इस समझौते से जर्मनी में शीत युद्ध के तनावों के बीच बहुत कमी हुई तथा पश्चिमी जर्मनी तथा पूर्वी जर्मनी के बीच पुनर्मिलाप के लिए रास्ता साफ हो गया।
2. **1971 ई. का बर्लिन समझौता-** मास्को-बॉन समझौते के बाद पश्चिमी जर्मनी के चांसलर ने बर्लिन की समस्या को हल करने के लिए उपायों का सूत्रपात किया। समझौतों की काफी लंबी बातचीत के बाद 3 सितंबर, 1971 को अमरीका, सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने बर्लिन पर एक चार-शक्ति समझौता (Four Power Agreement) किया। इस समझौते के अनुसार यह निर्णय किया गया कि यथापूर्व स्थिति (Status quo) को बनाये रखा जायेगा। परंतु इसके साथ ही पश्चिमी बर्लिन के लोगों को पूर्वी बर्लिन तथा जर्मन डैमोक्रेटिक रिपब्लिक जाने की आज्ञा दे दी जाएगी। इस समझौते से बर्लिन समस्या को तनावों से बहुत सीमा तक छुटकारा मिल गया।
3. **1972 ई. का कोरिया समझौता-** 4 जुलाई, 1972 के समझौते द्वारा उत्तरी कोरिया तथा दक्षिणी कोरिया दोनों ने अपने संबंधों को सामान्य बनाने के लिए कार्य करना स्वकार कर लिया तथा कोई ऐसा भी कार्य जो उनको क्षीण बनाता हो, करने से परहेज करना भी मान लिया। इस समझौते के बाद सन 1973 में एक और समझौता हुआ जिसके अनुसार दोनों देशों ने संबंधों के विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर सहयोग करना स्वीकार कर लिया।
4. **1972 ई. का पूर्वी जर्मनी-पश्चिमी जर्मनी समझौता-** 8 नवंबर, 1972 को पूर्वी जर्मनी तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार दोनों देशों ने अपने संबंधों के विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग के लिए कार्य करना तथा एक दूसरे को मान्यता देना मान लिया। दोनों ने इस शर्त को स्वीकार किया कि जर्मनी की समस्या का निपटारा करने के लिए वे शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। इस समझौते से पुराने शीत युद्ध के युग का वास्तविक रूप से अंत हो गया। संयुक्त राष्ट्र की जनरल असैम्बली की 20वीं बैठक में दोनों राज्यों, पश्चिमी जर्मनी तथा पूवी जर्मनी ने प्रभुसत्ता संपन्न राष्ट्रों के रूप में भाग लिया।
5. **1973 ई. का हैलसिंकी सम्मेलन तथा 1975 ई. का हैलसिंकी समझौता-** यूरोप की सुरक्षा के संबंध में हैलसिंकी सम्ममेलन 3 जुलाई से 5 जुलाई, 1973 तक हुआ तथा यूरोपीय राष्ट्रों, साम्म्यवादी तथा गैर-साम्यवादी, दोनों ने एक ही आवाज में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में सहयोग तथा संबंध बढ़ाने की आवश्यकता की मांग की। यह स्वीकार किया गया कि कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित के ऐच्छिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनी सैनिक शक्ति का सहारा नहीं लेगा। अगस्त 1975 में यूरोप तथा अमरीका के 35 राज्यों के अध्यक्षों ने हैलसिंकी मं एक समझौता किया, जिसमें उनके संबंधों को व्यवस्थित तथा शांतिपूर्ण ढंग से चलाने के लिए एक आचार-संहिता बनाई गई। उसमें 34 यूरोपीय राष्ट्रों में से 33 राष्ट्रों ने (अर्थात एलबानिया के

अतिरिक्त समस्त यूरोप ने) अमरीका तथा कैनेडा के साथ मिलकर राज्यों की साम्यवादी या गैर-साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं को ध्यान में न रखते हुए परस्पर सहयोग के लिए कार्य करना स्वीकार कर लिया। प्रत्येक राज्य की प्रभुसत्ता, सर्वोपरि अधिकार, भूक्षेत्रीय अखंडता, शक्ति का प्रयोग, शक्ति की धमकी, झगड़ों का शांतिपूर्ण ढंग से निपटारा, किसी राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना तथा यूरोप के राष्ट्रों के बीच विश्वास पैदा करना आदि कुछ ऐसे मुख्य सिद्धांत थे जिनको संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने पालन करना था। यह समझौता वास्तव में इतनी शक्ति रखता था कि यूरोप में शीत युद्ध के युग को समाप्त कर सकता था। अमरीका तथा सोवियत संघ दोनों ने औपचारिक रूप में हैलसिंकी समझौते को स्वीकार कर लिया। सन 1975 के बाद, हैलसिंकी समझौते की यह सदभावना यूरोपीय राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण तथा सहयोग पूर्ण संबंधों का आधार बन गई।

6. **कम्बोडिया में युद्ध की समाप्ति** - सन 1975 की अप्रैल में सिहनॉक (Sihanouk) सेनाओं की विजय के परिणामस्वरूप कम्बोडिया में युद्ध की समाप्ति ने कम्बोडिया में गृह-युद्ध (Civil War) को समाप्त कर दिया। इसने शीत युद्ध के एक अन्य केंद्र (हिन्द-चीन) को समाप्त कर दिया।

7. **वियतनाम युद्ध की समाप्ति** - 30 अप्रैल, 1975 को वियतनाम का युद्ध समाप्त हो गया। इसका परिणाम यह हुआ है कि वियतनाम का एकीकरण हो गया। वियतनाम में युद्ध की समाप्ति ने शीत युद्ध ह्रास में बहुत सहायता की क्योंकि छठे शतक के मध्य में वियतनाम अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत युद्ध का मुख्य केंद्र बना रहा था।

8. **अमरीका-चीन का मेल-मिलाप**- 1970-71 में चीन-अमरीका दीतां के प्रादुर्भाव ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय को शीत युद्ध के दौर से बाहर आने में सहायता की। इसमें संयुक्त राष्ट्र (U.N.O.) में चीन के प्रवेश का मार्ग खुल गया तथा युद्धोत्तर काल के अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के एक गतिरोध को समाप्त कर दिया। परंतु सोवियत संघ तथा चीन के बीच बढ़े हुए विरोध ने अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में चीन के पुनर्निवास के परिणामस्वरूप मिलने वाले संभावित लाभों को काफी कम कर दिया।

9. **1979 ई. में इजराइल तथा मिश्र के बीच समझौता**- 26 मार्च, 1979 को इजराइल तथा मिस्त्र के बीच कैंप डेविड समझौता हुआ। अमरीका के राष्ट्रपति कार्टर के द्वारा किए गए प्रयत्नों के परिणामस्वरूप होने वाला यह एक अन्य महत्वपूर्ण पग था। यह समझौता मिस्त्र तथा इजराइल के बीच एक प्रकार की संधि थी तथा इसका उद्देश्य मध्य पूर्व में संघर्ष को कम करना था।

10. **अमरीका-सोवियत दीतां-** 1970 से 1980 तक के समय का एक महत्वपूर्ण विकास दोनों महाशक्तियों के बीच दीतां का प्रादुर्भाव था। सन 1962 के बाद के वर्षों में दोनों महाशक्तियों के नेताओं के बीच विकसित पारस्परिक संबंधों के कारण अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच दीतां (विरोधी संबंधों को समाप्त करने तथा पारस्परिक संबंधों में सहयोग स्थापित करने के लिए जान बूझ कर किया गया प्रयत्न) का प्रादुर्भाव हो गया। मई 1972 में अमरीका के राष्ट्रपति निक्सन (Nixon) सोवियत संघ गए तथा दो महत्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर किए। (क) पेक्षेपास्त्र रोधक मिसाइल व्यवस्था के परिसीमन पर संधि (The Treaty on the Limitation of Anti-Ballistic Missile System) तथा (ख) Strategic Arms Limitation Treaty (SALT-I) पर नियंत्रण के संबंध में कुछ उपायों पर अंतरिम समझौता। जून 1973 में सोवियत साम्यवादी दल के प्रधान ब्रेजनेव ने बदले में वाशिंगटन की यात्र की। उनकी यात्रा के दौरान कृषि, यातायात तथा समुद्र विज्ञान तथा सांस्कृतिक और वैज्ञानिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में परस्पर सहयोग को बढ़ाने को दृष्टि में रखते हुए चार द्वि-पक्षीय समझौतों पर हस्ताक्षर किए गए। निक्सन (Nixon) तथा ब्रेजनेव (Brezhnev) दोनों ने परमाणु युद्ध न करना स्वीकार किया तथा जब कभी भी कहीं भी परमाणु युद्ध का

भय हो तत्काल ही बातचीत तथा परामर्श करना भी स्वीकार किया। दोनों देशों ने आगे आने वाले हैलसिंकी सम्मेलन (Helsinki Conference) में सहयोग देना भी स्वीकार किया। 1974 ई. में राष्ट्रपति फोड तथा ब्रेजनेव, ब्लाडिवोस्टक में मिले तथा ''आगे के 10 वर्षों के लिए Strategic Offensive Weapons को सीमित करने के नये समझौतों की आवश्यकताओं को स्वीकार किया। उन्होंने अपने संबंध बनाये रखे तथा सन् 1975 के हैलसिंकी सम्मेलन में द्विपक्षीय बातचीत की। सन 1975 में सोवियत संघ तथा अमरीकी अंतरिक्ष यात्रियों द्वारा अंतरिक्ष में हाथ मिलाने से दोनों उच्च शक्तियों के तनाव दीतां द्वारा की गई प्रगति को स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित किया गया। 15 जून, 1979 को दोनों राष्ट्रों ने SALT II समझौते पर हस्ताक्षर किये।'

4.9 स्वयं जांच प्रश्न

1. शीत युद्ध किन दो गुटों से सम्बन्धित था?
2. अमेरिकन गुट ने किस सैनिक गठबन्धन का निर्माण किया?
3. सोवियत गुट ने किसका निर्माण किया?
4. भारत ने शीत युद्ध से अलग रहने के लिए किस आन्दोलन की शुरूआत की थी?
5. NATO सन्धि का निर्माण कब किया गया था?
6. क्यूबा मिसाइल संकट कब हुआ?

4.10 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 1971 ई. से 1979 ई. के बीच दोनों महाशक्तियों के परस्पर संबंधों में बड़ा उल्लेखनीय सुधार हुआ। शीत युद्ध के स्थान पर मित्रतापूर्ण सहयोग उनके संबंधों की विशेषता बन गया। सोवियत संघ तथा अमरीका के बीच इस तरह व्यापक तनाव शैथिल्य से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शीत युद्ध का ह्रास हो गया। परंतु दुर्भाग्य से यह तनाव शैथिल्य अधिक समय तक नहीं चल सका तथा सन 1979 के अंतिम दिनों में अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर शीत युद्ध एक बार फिर उभर गया।

4.11 शब्दावली

साम्राज्यवाद - एक ऐसी व्यवस्था जहां विकसित पूंजीवादी राज्य अल्पविकसित देशों को कच्चे माल, श्रम एवं बाजार के लिए उपनिवेश बनाते हैं। इससे ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित राज्य ऊंचे लाभ के लिए अपनी अधिपूंजी का निवेश अल्पविकसित राज्यों में करते हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था - पूंजीवादी व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें भूमि, श्रम एवं उत्पाद बाजार, चीजें होती हैं और मजदूरों का उत्पादन के साधनों पर न तो कोई मलकियत होती है और न ही कोई नियन्त्रण। नतीजन पूंजीपति मजदूरों का शोषण करते हैं।

लेटिन अमेरिका - केन्द्र और दक्षिण अमेरिका के वे क्षेत्र जहां की मुख्य भाषा स्पेनिश अथवा पुर्तगाली है।

4.12 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर (प्रश्नों के उत्तर के लिए 4.12 देखें)

1. अमेरिका गुट तथा सोवियत गुट
2. नाटो, सीटो, सैन्टो
3. वारसा पैक्ट
4. गुट-निरपेक्ष आन्दोलन

5. 1949 में

6. 1962 में

4.13 ग्रन्थ सूची

- बी. एन खन्ना, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: विकास पाब्लिशिंग हाऊस, 1999).
- मथुरालाल शर्मा, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** (न्यू दिल्ली: कॉलेज बुक डिपो).
- प्रभुदत्त शर्मा, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति** (जयपुर: कॉलेज बुक डिपो).
- तपन विसवाल, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध** (ओरियंट ब्लैक स्वॅान).
- ई.एच. कार, **दो विश्व युद्धों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध 1919-1939** (आगरा: लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन).
- यू.आर.घई, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति: सिद्धान्त एवं व्यवहार,** (जालन्धर: न्यू एकडोमिक पब्लिशिंग कम्पनी, 2000).
- ए. वेन्गर एण्ड डी. जिमरमैंन, **International Relations: from the Cold War to the Globalized World** (London : Lynne Rienner Press, 2003).

4.14 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

(1) शीत युद्ध का क्या अर्थ है ? इसकी प्रकृति की विवेचना कीजिए।

(2) शीत युद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों ने अपने-अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन-किन साधनों का प्रयोग किया, वर्णन करो।

(3) शीत युद्ध का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

(4) शीत युद्ध के मुख्य कारणों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

(5) ''1970-1979 तक के काल को शीत युद्ध के ह्रास और दीतां का काल कहा जाता है'' टिप्पणी करो ?

*****

अध्याय-5

नया शीत युद्ध : उदय और अंत

संरचना

5.0 भूमिका

5.1 अधिगम उद्देश्य

5.2 शीत युद्ध के उदय के कारण

5.3 नये शीत युद्ध की प्रकृति

5.4 नए शीत युद्ध का अंत

5.5 सोवियत संघ का विघटन

5.6 शीत युद्ध की समाप्ति का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

5.7 स्वयं जांच प्रश्न

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर

5.11 ग्रन्थ सूची

5.12 अभ्यास के लिए महत्वपूर्ण प्रश्न

5.0 भूमिका

सन 1970 के दशक का दीतां केवल दस वर्ष तक ही कार्यान्वित रहा। सन 1979 में अफगानिस्तान में सोवियत संघ की भूमिका, सोवियत संघ के विरुद्ध संतुलन बनाए रखने के लिए अमरीका द्वारा चीन के साथ संबंध बनाने के प्रयत्नों तथा संबंधों के विभिन्न दूसरे क्षेत्रों में असफलता से दीतां को गहरा धाक्का लगा। परिणामस्वरूप दीतां का लक्ष्य काफी कमजोर हो गया। दोनों महाशक्तियों ने कई ऐसे निर्णय लिए तथा कार्य किए जिन्होंने दीतां को बुरी तरह प्रभावित किया तथा इसके उद्देश्य को संकट में डाल दिया। सभी राज्यों तथा संबंधों के सभी क्षेत्रों में दीतां और विस्तृत प्रसार के विश्व लोक मत की परवाह न करते हुए दोनों महाशक्तियों ने दुनिया के विभिन्न भागों में कई ऐसे कार्य किए जिससे फिर से शीत युद्ध-एक नया शीत युद्ध पहले से कहीं अधिक बड़ा तथा पहले से कहीं अधिक भयानक विशेषताओं वाला शीत युद्ध, आरंभ हो गया।

5.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन उपरांत विद्यार्थी मुख्य रूप से-

- नये शीत युद्ध के कारणों को जान सकेंगे।
- नये शीत युद्ध की प्रकृति को समझ सकेंगे।
- नये शीत युद्ध का अंत कैसे हुआ समझने में सक्षम होंगे।
- शीत युद्ध की समाप्ति का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ा, का अवलोकन कर सकेंगे।

5.2 नए शीत युद्ध के उदय के कारण

बहुत से विद्वान नए शीत युद्ध का प्रार्दुभाव सन 1978 से मानते हैं जब इथोपिया (Ethopia) में सोवियत संघ के बढ़ते प्रभाव को संयुक्त राज्य अमरीका ने विफल बनाने का फैसला किया। संयुक्त राज्य के भूतपूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार मि. वर्जैजन्सिकी ने अपनी पुस्तक "Power and Principle" में लिखा है कि सन् 1978 में संयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन में संबंध बिगड़ने शुरू हो गए थे। इथोपिया में सोवियत संघ द्वारा क्यूबा के लोगों को शामिल करना पहले तो अमरीका ने अनदेखा कर दिया परंतु जब सोवियत संघ ने अमरीका के विरुद्ध अपनी सामरिक शक्ति (Stratagic Power) को बढ़ाने के प्रयत्नों को शुरू रखा तो रीगन प्रशासन ने सोवियत शक्ति पर रोक लगाने का फैसला किया। परिणामस्वरूप क्यूबा–सोवियम ब्रिगेड के कार्य तथा SALT-II की असफलता से दीतां को गहरा धक्का लगा। बाद में अफगानिस्तान में सोवियत संघ का हस्तक्षेप तथा अमरीका की इसके विरुद्ध कड़ी प्रतिक्रिया ने दीतां के युग को प्राय: समाप्त कर दिया तथा एक बार फिर अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में नया शीत युद्ध आरंभ हो गया। 1980 ई. के दशक में अग्रलिखित घटनाओं या कारणों ने नये शीत युद्ध को पुन: प्रारंभ कर दिया–

1. **सोवियत संघ की शक्ति में वृद्धि होना** – दितान्त के युग में सोवियत संघ परमाणु और नौ–सैनिक शक्ति में अमरीका की बराबरी करने का प्रयत्न कर रहा था। जब अमरीका वियतनाम युद्ध में उलझा हुआ था तब सोवियत संघ ने परंपरागत अस्त्रों और अंतरिक्ष में अमरीका से आगे निकलने की सफल चेष्टा की। अब सोवियत संघ अमरीका को चुनौती देने की स्थिति में था। उसके समुद्री जहाज सातों समुद्रों की गश्त लगाने लगे। अमरीका सोवियत संघ की सर्वोपरि स्थिति को कैसे स्वीकार कर सकता था?

2. **रीगन का राष्ट्रपति पद पर निर्वाचन होना** – नवंबर 1980 के अमरीकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में अमरीकी जनता ने जब एक बाज (हॉक–Hawk) को ह्वाइट हाउस की गद्दी प्रदान कर दी तो नये शीत युद्ध की गर्मी को सर्वत्र अनुभव किया जाने लगा। दक्षिणपन्थियों और कट्टर रूढ़िवादियों के हाथों ह्वाइट हाउस की बागडोर उग्र–आक्रामक नीतियों का संकेत था। रीगन ने सत्ता में आते ही 'अमरीका को पुन: कार्य पर लगाने', 'शस्त्र उद्योग को बढ़ावा देने', 'मित्रों–राष्ट्रों का पुन: शस्त्रीकरण करने', 'शस्त्र प्रतिस्पर्धा को तेज करने' और सोवियत संघ के प्रति उग्र नीति अपनाने की घोषणा करके' पहले से ही शुरू हुए नये शीत युद्ध की अग्नि में घी की आहुति दे दी।

3. **अंतरिक्षत अनुसंधान की सोवियत संघ-अमरीकी होड़** – अंतरिक्ष में हाथयारों की होड़ का सिलसिला पिछले तीन दशकों से जारी था। जिस दिन पहला स्पुतनिक छोड़ा गया था, उसी दिन इस होड़ की भी शुरूआत हो गयी थी। सोवियम संघ और अमरीका दोनों ने यह प्रचार किया कि उनके अंतरिक्ष अनुसंधान मानव जाति के कल्याण के लिए हैं। वास्तव में दोनों की ही नीयत साफ नहीं थी। दोनों को यह आशंका हमेशा रही कि दूसरा अंतरिक्ष अनुसंधान में कहीं बाजी न मार ले जाये, इसलिए दोनों एक–दूसरे पर कड़ी नजर रखने लगे। पहले साधारण उपग्रह, फिर संचार उपग्रह, फिर अंतरिक्ष में प्रयोगशाला तो दूसरी ओर मनुष्य को अंतरिक्ष में लंबे समय तक रखकर प्रयोग करने में समर्थ बनाने के प्रयास। एक ओर स्पेस शटल तो दूसरी ओर अंतरिक्ष स्टेशन। एक ने आदमी को चंद्रमा पर भेजकर वहां की मिटृटी और चट्टाने मंगाकर विश्व को हतप्रभ कर दिया, तो दूसरे ने यंत्र द्वारा चंद्रमा से मिट्टी और चट्टानें लाकर दिखा दी। एक ने बृहस्पति और शनि की खोज के लिए यान भेजा, तो दूसरे ने अंतरिक्ष में कारखाने खोलने की तैयारी शुरू कर दी। कहा गया कि अंतरिक्ष यान इस ब्रह्मांड की गुत्थी को सुलझाने में मदद करेंगे तो दूसरे ने प्रचारित किया कि अंतरिक्ष कारखानों में ऐसी उपयोगी चीजें तैयार की जायेंगी जिन्हें धरती पर बनाना संभव नहीं।

   अमरीका के सैन्य संवाद का 80 प्रतिशत उपग्रहों के माध्यम से ही होता है। दिन–प्रतिदिन उपग्रहों पर उनकी निर्भरता बढ़ती जा रही थी। 1988 तक वह 18 उपग्रहों का एक ऐसा समूह स्थापित करना चाहता था, जो

विश्व के किसी भी हिस्से में विमानों, जहाजों और फौजियों की बिल्कुल ठीक स्थिति बता सके। इसके लिए उपग्रहों पर परमाणु घड़ियां लगाने की बात कही जाने लगी। लेसर संचार उपग्रहों से पनडुब्बी में बैठे योद्धा समुद्र की गहराइयों में रहकर वार्ता करने लगे।

सोवियत संघ भी पीछे नहीं था। 18 जून, 1982 को उसके कॉस्मॉस 1379 उपग्रह-मारक उपग्रह ने अंतरिक्ष में जाकर बारह दिन पूर्व छोड़े गए कॉस्मॉस यान का रास्ता रोक लिया। पृथ्वी से 950 किलोमीटर ऊपर उपग्रह-मारक अस्त्र की स्थापना की दिशा में यह पहला कदम था। उपग्रह-मारक उपग्रह के इस निदर्शन के कुछ ही घंटों में सोवियत संघ ने अंतरिक्षत में दो आई.सी.बी.एम., एक मध्यम दूरी का एस.एस. 20 प्रक्षेप्रास्त्र, एक पनडुब्बी प्रक्षेपित प्रक्षेपास्त्र और दो बैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्र-रॉकेट छोड़कर खौफनाक युद्ध का माहौल बना दिया।

सोवियत संघ की इस अंतरिक्षीय उपलब्धि के बाद अमरीका भला चुप कैसे बैठ सकता था? उसने रफ्तार से अपनी उपग्रह-मारक प्रणाली तैयार कर डाली और 14 सितंबर, 1985 को अपना पहला उपग्रह-मारक परीक्षण कर डाला।

यह ठीक है कि अंतरिक्ष अनुसंधान का लाभ मनुष्य को मिला है। संचार उपग्रह के रूप में यह अनुसंधान वरदान है। लेकिन यह भी सच है कि सोवियत रूस और अमरीका ने अब तक जितने उपग्रह छोड़े हैं उनमें से 75 प्रतिशत उपग्रह सैनिक उपयोग के लिए थे। उनका इस्तेमाल एक-दूसरे की सैनिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए किया जाता था। अंतरिक्ष अनुसंधान के लिए ये दोनों देश जो भारी धनराशि खर्च कर रहे थे उसकी तीन-चौथाई राशि सैन्य प्रयोजनों पर खर्च होती थी। इन तमाम उपग्रहों से दोनों देशों को एक-दूसरे की गतिविधियों का पता रहा और जहां एक देश को आभास हआ कि वह किसी बात में पिछड़ रहा है, वह अपनी गति तेज कर देता।

4. **अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप**-अफगानिस्तान में सौर क्रान्ति का सफल होना तथा काबुल की सत्ता साम्यवादियों के हाथों में आना अमरीका के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था। 27 दिसंबर, 1979 को सोवियत संघ ने जिस तत्परता से अफगानिस्तान में कार्यवाही की उससे न केवल अमरीका अपितु संपूर्ण विश्व चौंक गया। अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप से अमरीका हड़बड़ा उठा उसने सोवियत हस्तक्षेप की न केवल निंदा की अपितु सीनेट में साल्ट-2 पर बहस को स्थगित कर दिया, 'हॉट लाइन' पर तत्कालीन राष्ट्रपति कार्टर ने सोवियत नेताओं से बातचीत में कड़े शब्दों का प्रयोग किया, सोवियत संघ को अनाज देने और तेल की खोज के लिए आधुनिक संयंत्र और तकनीकी जानकारी देने के निर्णय को बदल दिया तथा 1980 में होने वाले मास्को ओलंपिक खेलों का बहिष्कार कर दिया। अमरीका की ये कार्यवाहियां दूसरे शीत युद्ध की शुरूआत थी।

5. **दक्षिण-पूर्वी एशिया में बढ़ता हुआ सोवियत प्रभाव**-हिन्दचीन में सोवियत प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। वियतनाम की सफलताओं से कम्बोडिया और लाओस के साम्यवादियों को बल मिला। हेंग सामरिन ने वियतनाम से समर्थन एवं सैनिक सहायता प्राप्त करके 7 जनवरी, 1979 को पोल पोत के ख्मेर शासन का तख्ता पलट दिया। इससे न केवल चीन नाराज हुआ अपितु अमरीका भी हड़बड़ा उठा, क्योंकि वियतनाम के माध्यम से सारे हिन्दचीन में सोवियत संघ के प्रभाव के फैलने की संभावनाएं बढ़ गई। हिन्दचीन में सोवियत प्रभाव के विस्तार को रोकने के लिए चीन और अमरीका ने संयुक्त मोर्चा बना लिया। अमरीका से प्रेरणा पाकर वियतनाम को सबक सिखाने के उद्देश्य से चीन ने 17 फरवरी, 1979 को वियतनाम पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण ने वियतनाम को सोवियत संघ की गोद में धकेल दिया।

6. **यूरोप में मध्यम मार प्रक्षेपास्त्रों का उलझा सवाल**–सोवियत संघ ने यूरोप में एस.एस. 20 प्रक्षेपास्त्रों को लगाने का निर्णय लिया। इससे नाटो देशों को डर था कि सोवियत रूस द्वारा लगाये जा रहे प्रक्षेपास्त्रों के कारण उनकी स्थिति दयनीय हो जाएगी क्योंकि ब्रिटेन और फ्रांस के पास जो 162 प्रक्षेपास्त्र थे, वे सोवियत संघ के 340 नये एस. एम. 20 तथा 260 पुराने एस.एम. 4 और 5 प्रक्षेपास्त्रों के मुकाबले बहुत हल्के थे। अतः दिसंबर 1979 में निर्णय किया गया कि अमरीका से नयी पीढ़ी के जानदार प्रक्षेपास्त्र मंगाकर पश्चिमी यूरोप के नाटो देशों में लगाए जाएं। उनकी संख्या 572 हो, 108 तो हों पर्शिंग–2 और464 हों क्रूज, 162 पहले से ही थे। सोवियत संघ के लिए यह काफी चिंताजनक बात हो गयी।

''एक ओर परमाणु आयुधों से लैस शक्तिशाली देशों के पास इन सर्वनाशकारी अस्त्रों का जखीरा बढ़ रहा था तो दूसरी ओर महाशक्तियों के बीच तनातनी की बिजलियां कौंध रहीं थीं।' नवंबर 1983 में जब सोवियत संघ ने यूरोप में मध्यम मार परमाणु प्रक्षेपास्त्रों में कटौती को लेकर चल रही वार्ता का बहिष्कार किया तो महाशक्तियों का तनाव और भी बढ़ गया।'

7. **स्टारवार्स (अन्तरिक्ष युद्ध) परियोजना**–स्टारवार्स–यह नाम ही कुछ अजब, रहस्यमय और कल्पना की उड़ान सा लगता है। 23 मार्च, 1983 को राष्ट्रपति रीगन ने राष्ट्र को संबोधित करते हुए 'स्टारवार्स' संबंधी घोषणा की। स्टारवार्स यानी अरबों डालरों से निर्मित हो रही अमरीका की नयी प्रतिरक्षा परियोजना। अनुसंधान का उद्देश्य था हमला रोकने के लिए वैलिस्टिक प्रक्षेपास्त्रों से सुरक्षा की हाल में विकसित टेक्नोलोजी के उपयोग के तरीके खोजना, ताकि अमरीका अपनी और अपने मित्र–राष्ट्रों की सुरक्षा कर सके। स्टारवार्स–अभियान के तहत लगभग दो हजार युद्धयान अंतरिक्ष में तैरेंगे और आधुनिकतम आयुधों से घुसपैठिया–प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट करेंगे। नये अस्त्रों की खोज जारी थी–एक तरीका था न्यूक्लीय और इलेक्ट्रॉन कणों से युक्त सशक्त प्लाज्मा किरणों का प्रयोग। प्लाज्मा किरणें शत्किशाली–से–शक्तिशाली लेसर किरणों से भी कई सौ गुना प्रभावशली होती हैं। प्लाज्मा किरणों के साथ–साथ शक्तिशाली एक्स–किरणों पर भी काम हो रहा था। रीगन की नजरों में यह एक ऐसा रक्षा कवच था जो शत्रु को बेअसर साबित कर देगा।

रोनाल्ड रीगन के ह्वाइट हाउस में प्रवेश लेते ही शस्त्र उद्योग को बढ़ावा दिया गया, शस्त्रों की होड़ तेज की गयी, मित्र राष्ट्रों को विशेषकर पाकिस्तान को एफ–16 जैसे वायुयानों एवं खतरनाक अस्त्रों से लैस किया गया, नाटो के सुरक्षा बजट में वृद्धि की गई, खाड़ी क्षेत्र में तत्काल कार्यवाही करने के उद्देश्य से अमरीकी द्रुतगामी सेना का गठन किया गया। ये हरकतें विश्वास दिलाती थी कि दूसरा शीत युद्ध चल रहा था।

5.3 नये (दूसरे) शीत युद्ध की प्रकृति

दूसरा शीत युद्ध पहले शीत युद्ध से काफी भिन्न था। इसकी प्रकृति और विशेषताएं निम्नांकित हैं

(1) **सोवियत संघ विरोधी न कि साम्यवाद विरोधी**–पुराना शीत–युद्ध साम्यवाद विरोधी था। उसका मूल उद्देश्य 'साम्यवाद का अवरोध' (Containment of Communism) था। इसके विपरीत, नया शीत–युद्ध सोवियत संघ विरोधी था। इसका उद्देश्य सोवियत संघ की बढ़ती हुई शक्ति और प्रभाव का प्रतिरोध करना था।

(2) **विचाराधारा के दायरे से परे**–पुराना शीत युद्ध विचारधारा के घेरे में लड़ा गया था। उसका दायरा 'पूंजीवाद' बननाम 'साम्यवाद' अथवा 'लोकतंत्र' बनाम 'सर्वहारातंत्र' का अधिनायकवाद था जबकि नया शीत युद्ध विचारधारा के घेरे में नहीं लड़ा जा रहा था। इस युद्ध में साम्यवादी चीन पूंजीवादी अमरीका के साथ था। नये शीत–युद्ध का मुख्य आधार उपयोगिता और न्यस्त स्वार्थ थे न कि विचारधारा। सोवियत शक्ति और प्रभाव के विस्तार के प्रति अमरीका इतना ईर्ष्यालु और सतर्क था कि उसे सीमित करने के लिए साम्यवादी चीन से मित्रता करने में कोई हिचकिचाहट महसूस नहीं हुई।

(3) नये शीत-युद्ध के नये अभिकर्त्ता - पुराने शीत-युद्ध के मुख्य पात्र अमरीका और सोवियत संघ थे जबकि नय-शीत युद्ध के मुख्य पात्र थे- अमरीका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और सोवियत संघ। एक तरफ अमरीका, चीन, ब्रिटेन व फ्रांस थे और दूसरी तरफ अकेला सोवियत संघ था।

(4) प्रतिस्पर्द्धा का नया क्षेत्र-पुराने शीत युद्ध में महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता का मुख्य क्षेत्र यूरोप था। यद्यपि सीटो, सेण्टो जैसे संगठन बनाये गए थे परंतु उस काल में नाटो संगठन ही लावा उगलता रहा। नये शीत युद्ध काल में लावा उगलने वाले मुख्य क्षेत्र थे-फारस की खाड़ी, पश्चिमी एश्यिा, दक्षिण-पूर्वी एशिया और हिन्द महासागर।

(5) नये शीत युद्ध के सहभागी बनने में यूरोपीय देशों की हिचकिचाहट-पुराने शीत-युद्ध में शामिल होने के लिए यूरोपीय देश मजबूर थे। चूंकि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अपनी सुरक्षा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए वे अमरीका पर निर्भर थे अतः उनके लिए अमरीकी विदेश नीति का अनुसरण करना अपरिहार्य था। अब स्थित काफी बदल गयी थी। फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी अमरीका विदेशी नीति के पिछलग्गू बनकर नहीं हर सकते थे। न्यूट्रॉन बम का सफलतापूर्वक विस्फोट कर लेने से फ्रांस अब अपनी सुरक्षा के लिए अमरीका पर निर्भर नहीं था। पश्चिमी जर्मनी आर्थिक दृष्टि से न केवल आत्मनिर्भर था अपितु औद्योगिक और इलेक्ट्रानिक क्षेत्र में अमरीका को चुनौती देने की स्थिति में था। यही कारण था कि पश्चिमी जर्मनी और सोवियत संघ में व्यापार द्रुत गति से बढ़ रहा था।

(6) पुराना शीत युद्ध-निर्गुट आंदोलन का प्रेरक तो नया शीत-युद्ध निर्गुट आंदोलन का विभेदीकरण-प्रथम शीत युद्ध काल में निर्गुट आंदोलन का अभ्युदय हुआ और निर्गुट आंदोलन का उद्देश्य महाशक्तियों के मध्य सेतुबंध का कार्य करना था। दूसरे शीत-युद्ध में निर्गुट राष्ट्र स्वयं गुटबन्दी के शिकार होते जा रहे थे और निर्गुट मंच पर कुछ देश अमरीका की तरफदारी करने लगे तो कुछ सोवियत संघ की तरफदारी।

(7) महाविनाशकारी शस्त्रों के भंडारों से लड़ा जाने वाला युद्ध-दूसरा शीत-युद्ध महाविनाशकारी शस्त्रों के जमाव एवं भंडारण से भय और मानसिक तनाव उत्पन्न करके लड़ा जा रहा था। महाशक्तियां प्रत्यक्ष टकराव की स्थिति के बजाय एजेंटों के माध्यम से (Proxy wars) युद्धरत थीं।

(8) पहला शीत-युद्ध सोवियत मजबूरी था तो दूसरा शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरी-पहला शीत-युद्ध स्टालिन की उग्र आक्रामक नीतियों का परिणाम था। स्टालिन सोवियत शक्ति में वृद्धि करना चाहता था ताकि वह अमरीका के समान एक महाशक्ति बन सके। दूसरा शीत-युद्ध अमरीकी मजबूरियों का परिणाम था। अब अमरीका औद्योगिक सामान और इलेक्ट्रॉनिक्स में फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान के साथ प्रतिद्वन्द्विता नहीं कर सकता। अतः विश्व में शस्त्रों का निर्यात करना चाहता था, क्योंकि यही एक ऐसा उद्योग है जहां उसे पश्चिमी देशों की प्रतिद्वन्द्विता सहन नहीं करनी पड़ती। शस्त्र उद्योग का विकास अमरीका की आर्थिक स्थिति में सुधार हेतु आवश्यक माना जा रहा था। इसलिए अमरीका नाटो के सैनिक बजट में वृद्धि चाहता था और मित्र-राष्ट्रों का शस्त्रीकरण करना चाहता था। इसलिए उसने साल्ट वार्ताओं को स्थापित कर दिया और दितान्त को तिलांजलि देने की तैयारी कर ली।

जर्मनी और जापान आर्थिक और तकनीकी क्षेत्र में अमरीका को चुनौती दे रहे थे। विकासशील निर्गुट राष्ट्र उसे राजनीतिक क्षेत्र में चुनौती दे रहे थे। आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी चुनौतियों का सामना करने के लिए अमरीका सैनिक शक्ति का निर्माण (Military Build-up) की नीति अपना रहा था।

5.4 शीत-युद्ध का अंत

1985-91 की कालवधि शीत-युद्ध के अंत (End of Cold War) की दृष्टि से सोवियत संघ अमरीकी संबधों में ऐतिहासिक सीमाचिन्ह मानी जाती है। दूसरे शीत-युद्ध काल में दोनों ही देश हथियारों के अनुसंधान और उत्पादन में लगे रहे पर यह भी महसूस करते रहे कि परमाणु शस्त्रों के बारे में कोई न कोई समझौता हो जाना चाहिए जिससे दोनों ही अपने रक्षा उत्पादन और अनुसंधान बजट में हो रही बेतहाशा वृद्धि को रोक सकें। इस उद्देश्य के लिए जनवरी 1985 में अमरीकी विदेश मंत्री जॉर्ज शुल्ट्ल और सोवियत विदेशी मंत्री आन्द्रेई ग्रोमिको की मुलाकात एक शुभ संकेत सिद्ध हुई जिसने गोर्बाच्योव-रीगन शिखर बैठक (नवंबर, 1985) का आधार तैयार कर दिया। यह पहली शिखर वार्ता 'औपचारिक शुरूआत' जैसी रही और दोनों नेताओं की इस बातचीत के लिए विचारणीय विषयों की कोई सूची नहीं थी लेकिन, इस शिखर वार्ता का ऐतिहासिक महत्व इस तथ्य में है कि पांच-छ: वर्ष के दूसरे शीत-युद्ध और जर्बदस्त तनाव तथा चुप्पी के बाद तनाव घटाने की दिशा में यह पहला बड़ा कदम था। इसके बाद एक के बाद एक शिखर वार्ता और समझौते होते गये और 1991 के अंत तक शीत युद्ध समाप्त हो गया। शीत-युद्ध समाप्ति की दिशा में निम्नलिखित समझौते, शिखर, वार्ताएं और घटनाक्रम उल्लेखनीय हैं-

जेनेवा वार्ता (नवंबर 1985)- जेनेवा में दो महारथी रीगन और गोर्वाच्योव मिले। दो दिन (19 एवं 20 नवंबर, 1985) तथा उनके बीच निजी और गोपनीय बातचीत चली। दोनों महाशक्तियों के बीच छह साल बाद बातचीत हुई। जेनेवा शिखर वार्ता में दोनों महाशक्तियों के नेता जिन मुद्दों पर सहमत हुए वे इस प्रकार हैं-

1. परमाणु युद्ध कभी नहीं लड़ा जाना चाहिए। कोई भी एक पक्ष अपना सैनिक वर्चस्व कायम करने की कोशिश नहीं करेगा।
2. हथियारों की होड़ पर काबू पाने के लिए दोनों पक्ष वार्ता को और तेजी से आगे बढ़ायें तथा दोनों पक्ष अपने-अपने परमाणु हथियारों के जखीरे में 50 प्रतिशत कमी करें।
3. दोनों पक्ष 1968 की परमाणु अप्रसार सन्धि की पुन: पुष्टि करें और अपील करें कि अधिकाधिक देश इस पर हस्ताक्षर कर दें।
4. रासायनिक हथियारों पर पूर्ण प्रतिबंध हो।
5. यूरोप में सेनओं के मामले पर वियेना वार्ता को महत्व दिया जाए।
6. बल प्रयोग को वर्जित घोषित करने के लिए दस्तावेज तैयार किया जाए।
7. दोनों पक्ष सांस्कृतिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक और आर्थिक संबंधों को प्रगाढ़ करें।
8. गोर्वाच्योव 1986 में अमरीका की और रीगन 1986 में सोवियत संघ की यात्रा करें।
9. सोवियत संघ न्यूयार्क में और अमरीका कीव में साथ-साथ अपना वाणिज्य दूतावास खोलें।

रीगन-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता- 11-12 अक्तूबर, 1986 को रिकजाविक (आइसलैंड) में अमरीकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन तथा सोवियत नेता मिखाइल गोर्वाच्योव के बीच दो दिन की शिखर वार्ता संपन्न हुई। 'स्टारवार्स' पर रीगन के अड़े रहने से शिखर वार्ता विफल हो गयी। रिकजाविक से रवाना होने से पूर्व रीगन ने कहा कि स्टारवार्स कार्यक्रम को प्रायोगिक शोध एवं परीक्षण तक सीमित रखने का सोवियत प्रस्ताव उन्हें मान्य नहीं, जबकि गोर्वाच्योव ने कहा कि यदि वे सोवियत संघ को सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण आणविक अस्त्रों से वंचित कर अमरीका को अन्तरिक्ष में हथियार तैनात करने की छूट दे देते तो वह 'पागल' ही कहलाते। गोर्वाच्योव के अनुसार सामरिक हथियारों में अगले पांच वर्ष में पचास प्रतिशत कटौती करने, यूरोप में मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्र समाप्त करने तथा एशिया में सोवियत संघ के मध्यम दूरी के प्रक्षेपास्त्रों की संख्या घटाने संबंधी एक योजना पर सहमति के वार्ता अत्यंत निकट थी। इसके साथ ही गोर्वाच्योव की मांग थी कि इन सारी कटौतियों के साथ-साथ यह भी जरूरी है कि अमरीका प्रयोगशाला से बाहर स्टारवार्स कार्यक्रम दस वर्ष रोक दे। रीगन ने इस प्रस्ताव को साफ नामंजूर कर दिया।

गोर्वाच्योव ने कहा कि अमरीका को विश्वास है कि वह 'स्टारवार्स' के द्वारा सोवियत संघ पर सैनिक श्रेष्ठता प्राप्त करने के कगार पर है। अत: रीगन ने उन समझौतों को भी मानने से इंकार कर दिया जिन पर पूर्ण सहमति हो चुकी थी और सिर्फ सन्धि पत्र पर हस्ताक्षर करने बाकी थी। इस प्रकार नया इतिहास बनाने का एक अवसर गंवा दिया गया।

अमरीका व सोवियत संघ सैन्य जानकारी देने को सहमत– सितंबर 1987 को अमरीका व सोवियत रूस के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए। इसके अंतर्गत दोनों देश अपनी सैनिक गतिविधियों के बारे में एक–दूससरे को जानकारी देने पर सहमत हुए। समझौते के अंतर्गत मास्को और वाशिंगटन में परमाणु जोखिम निस्तारण केंद्र खोले जाने पर सहमति हुई।

सोवियत संघ-अमरीका शिखर वार्ता तथा आई.एन.एफ. सन्धि पर हस्ताक्षर– सोवियत संघ के नेता गोर्वाच्योव अमरीकी राष्ट्रपति रीगन के बीच 8–10 सितंबर, 1987 मे वार्ता हुई। यह तीसरी शिखर वार्ता थी। दोनों नेताओं ने 9 दिसंबर, 1987 को एक ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसे आई.एन.एफ. सन्धि कहा जाता है। सन्धि का मूल पाठ दो सौ पृष्ठों का है। सन्धि में दोनों देश मध्यम व कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने को सहमत हो गये। इस सन्धि से कुछ मिलाकर 1,139 परमाणु हथियार नष्ट किये जाने की बात तय हुई।

सन्धि के अनुसार सोवियत संघ के एस.एस. 4, एस.एस 12, एस.एस 20, एस.एस 23 प्रक्षेपास्त्रों और अमरीका के पर्शिगं–1 ए.और पर्शिगं–2 और भू प्रक्षेपास्त्रों को नष्ट किया जाना तय हुआ।

आई.एन.एफ. सन्धि एक ऐतिहासिक सन्धि है। यह एक महत्वपूर्ण एवं अदभुत विकास है। यह विश्व शांति की दिशा में एक रचनात्मक कदम है। इसका महत्व इस प्रकार है–

1. यह महाशक्तियों के संबंध में रचनात्मक सुधार का प्रतीक हैं।
2. यह दोनों महाशक्तियों के युद्ध को रोकने का दृढ़ संकल्प है।
3. यह निस्त्रीकरण संबंधी पहला समझौता है।
4. यह परमाणु निस्त्रीकरण की ओर पहला कदम है। इसके तहत परमाणु प्रक्षेपास्त्रों की एक श्रेणी को पूर्णत: नष्ट कर दिया जाना तय हुआ। यद्यपि नष्ट किये जाने वाले परमाणु प्रेक्षपास्त्रों की मात्र कुल अस्त्रों से 4 से 8 प्रतिशत है फिर भी यह पहली निस्स्त्रीकरण संबंधी सन्धि है जिसमें कट्टर शत्रुओं और प्रतिद्वंद्वी महाशक्तियों ने अपने द्वारा निर्मित अस्त्रों को नष्ट करने का वचन दिया।
5. दोनों महाशक्तियां 'जांच प्रक्रिया' और मानीटरिंग पर राजी हो गई।

दोनों नेताओं में अन्य विषयों पर भी वार्ता हुई। दोनों देशों के बीच इसके परिणामस्वरूप कुछ समझौते हुए। एक समझौते के अनुसार अमरीका से सोवियत रूस तक सीधी वायु सेवा मई 1988 से आरंभ होना तय हुआ। एक अन्य समझौते के तहत दोनों देश अपने यहां परमाणु परीक्षणों की क्षमता की जांच के लिए एक दूसरे को निरीक्षण की सुविधा देने पर सहमत हुए। रीगन व गोर्वाच्योव दोनों ने इस शिखर वार्ता को तनाव कम करने की दिशा में ऐतिहासिक बताया।

रीगन-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता – 1 जून, 1988 को मास्को में रीगन व गोर्वाच्योव के बीच वार्ताओं के चार दौर हुए। दोनों देशों के विदेशी मंत्रियों ने भूमिगत परमाणु विस्फोटों पर पाबंदी की साझा जांच से संबंधित एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके अतिरिक्त अंतर महाद्वीपीय वैलिस्टिक मिसाइलों के प्रक्षेपण पर एक–दूसरे को सूचना देने संबंधी समझौते पर भी हस्ताक्षर हुए। सोवियत सांस्कृतिक मंत्री जखारोफ और अमरीकी सूचना एजेन्सी के निदेशक श्री विक ने 1989–91 के लिए आपसी सहयोग और विनिमय संबंधी कार्यक्रम पर हस्ताक्षर किये। इसके तहत दोनों देश एक–दूसरे के बीच सांस्कृतिक संबंध बढ़ाने हेतु कार्यवाही करने के लिए सहमत हुए।

प. जर्मनी के चांसलर की मास्को यात्रा - 24-27 अक्तूबर, 1988 को प. जर्मनी के चांसलर **हेलमुट कोल** ने मास्को की यात्र की। इस यात्रा से यह प्रकट होता है कि पश्चिमी यूरोप के देश सोवियत संघ तथा व्यक्तिश: गोर्वाच्यीव से अपना संबंध स्थापित करने को एक प्रकार की गौरव की भावना से दखने लगे। इसी यात्रा के दौरान प. जर्मनी और सोवियत संघ की सरकारों के मध्य छ: समझौते हुए तथा तीस व्यावसायिक ठेके दिये गए। प. जर्मनी की तकनीकी प्रतिभा व साधन सोवियत संघ की आर्थिक 'पेरेस्त्रोइका' की सफलता के लिए क्रियाशील हो सकेंगे।

संयुक्त राष्ट्र महासभा में गोर्वाच्योव की घोषणा-8 दिसंबर, 1988 को संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी विश्व संस्था के मंच से गोर्वाच्योव ने घोषणा की कि सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के देशों से 5 लाख सैनिक हटा लेगा और परंपरागत हथियारों में काफी कटौती कर देगा। यह घोषणा सोवियत संघ की नीति में आ रहे जबर्दस्त परिवर्तन का संकेत था। गोर्वाच्योव की मुलाकात न्यूयार्क में राष्ट्रपति रीनग और निर्वाचित राष्ट्रपति बुश से भी हुई। इस मुलाकात के लिए धन्यवाद देते गोर्वाच्योव ने कहा "हमारी बातचीत से जो नया वातावरण बन रहा है और उसमें जो नई लय उत्पन्न हुई है वह बराबर जारी रहेगी।" राष्ट्रपति रीगन ने गोर्वाच्योव की उक्त घोषणा का स्वागत किया क्योंकि रीगन ने ही सोवियत संघ को कभी 'दुष्ट साम्राज्य' कहा था। गोर्वाच्योब ने अमरीकियों को अपनी राय बदलने के लिए तो अब विवश कर ही दिया था।

बुश-गोर्वाच्योव शिखर वार्ता- 2-3 दिसंबर, 1989 को भूमध्यागर में अमरीका व सोवियत युद्धपोतों पर राष्ट्रपति जॉर्ज बुश व गोर्वाच्योव के बीच शिखर वार्ता संपन्न हुई। राष्ट्रपति बुश ने जून में गोर्बाच्योव को अमरीका आने का निमंत्रण दिया। राष्ट्रपति बुश ने सुझाव दिया कि अमरीका व सोवियत संघ सन 2004 में ओलंपिक खेल बर्लिन में कराने के लिए एक अपील जारी करें। यद्यपि किसी समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किये तथापि दोनों ने स्वीकार किया आपसी बातचीत का क्रम चलते रहना चाहिए।

सोवियत संघ व यूरोपीय आर्थिक समुदाय में समझौता-दिसंबर 1989 का सोवियत विदेश मंत्री शेवर्दनात्से ब्रुसेल्स में नाटो मुख्यालय पर गये और राजदूतों की परिषद से भेंट की। उन्होंने यूरोपीय आर्थिक समुदाय के साथ एक 10 वर्षीय समझौते पर हस्ताक्षर किये। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के साथ हुए समझौते के अंतर्गत सोवियत संघ व समुदाय के देशों के बीच विभिन्न वस्तुओं में व्यापार बढ़ाने पर सहमति हो गई।

बर्लिन की दीवार का ध्वस्त होना-यूरोप में वर्लिन की दीवार शीत युद्ध का कलुषित प्रतीक थी। 9 नवंबर, 1989 को बर्लिन को दो भागों में बांटने वाली दीवार ध्वस्त कर दी गई। पूर्वी जर्मनी से लोग बिना किसी रोक-टोक के पश्चिमी जर्मनी जाने लगे। इस घटना का सोवियत संघ की ओर से कोई प्रतिरोध नहीं किया गया।

जर्मनी का एकीकरण- 1 जुलाई, 1990 को दोनों जर्मनी का आर्थिक एकीकरण हो गया। 15-16 जुलाई, 1990 को पश्चिमी जर्मनी के चासंलर हेल्मुट कोल ने सोवियत राष्ट्रपति गोर्वाच्योव से भेंट की। बाद में एक पत्रकार सम्मेलन को संबोधित करते हुए सोवियत राष्ट्रपति ने कहा कि जर्मनी का एकीकरण निश्चित है, सोवियत संघ जर्मनी से निकट संबंध चाहता और यह जर्मनी इच्छा पर है कि वह नाटो व वारसा पैक्ट में शामिल हो। इस प्रकार सोवियत संघ ने जर्मनी के एकीकरण को हरी झंडी दिखा दी। 3 अक्तूबर 1990 को जर्मनी का एकीकरण हो गया जिसके साथ ही यूरोप से शीत-युद्ध की गंदगी साफ हो गई।

नाटो द्वारा शीत-युद्ध समाप्ति की घोषणा-5-6 जुलाई, 1990 को लंदन में दो दिवसीय नाटो शिखर सम्मेलन में राष्ट्रपति बुश ने ऐतिहासिक घोषणा करते हुए कहा कि नाटो व वारसा पैक्ट देशों के बीच शीत-युद्ध अब समाप्त हो चुका है। सोवियत संघ की आशंकाओं को दूर करने के लिए नाटी घोषणा में कहा गया कि जर्मनी से सैनिकों की तादाद कम कर दी जाएगी, जैसे-जैसे सोवियत संघ पूर्वी यूरोप से अपनी सेनाएं हटाएगा, नाटो भी पश्चिमी जर्मनी से परमाणु प्रक्षेपास्त्र हटा लेगा। पश्चिम जर्मनी ने सोवियत संघ को आश्वासन दिया कि वह एकीकरण के बाद अपनी सेना आधी कर देगा। नाटो देशों में वारसा पैक्ट के देशों के सामने एक अनाक्रमण घोषणा के साथ परमाणु शस्त्रों को खत्म करने का प्रस्ताव रखा।

हेलसिंकी ने गोर्वाच्योव-बुश वार्ता- 8-9 सितंबर, 1990 को हेलसिंकी में राष्ट्रपति बुश व गोर्वाच्योव के बीच बातचीत हुई। दोनों नेताओं ने इराक द्वारा कुवैत पर आक्रमण की निंदा की और कहा कि वे सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का पूर्णतः समर्थन करते हैं। दोनों शासनाध्यक्षों ने विश्व समुदाय से संयुक्त राष्ट्र प्रतिबंधों को कारगर बनाने में सहयोग करने की अपील की। इस शिखर वार्ता में यह तथ्य स्पष्ट हुआ कि दोनों सुपर पॉवर-अमरीका और सोवियत संघ इस बात पर एकमत हैं कि इराक बिना शर्त कुवैत से वापस हो जाए तथा संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के सभी प्रस्तावों का अनुपालन करें। सोवियत संघ ने इराक को शस्त्रों की आपूर्ति बंद कर दी तथा कुवैत की स्वतंत्रता एवं सम्प्रभुता को बहाल करने की मांग की।

जर्मनी व सोवियत संघ के बीच मैत्री सन्धि- जर्मनी व सोवियत संघ के बीच 9 नवंबर, 1990 को वॉन में एक ऐतिहासिक अनाक्रमण व मैत्री सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। सोवियत संघ की ओर से इस सन्धि पर राष्ट्रपति गोर्वाच्योव ने व जर्मनी की ओर से चांसलर हेल्मुट कोल ने हस्ताक्षर किए। सन्धि में कहा गया कि दोनों देश आपसी मैत्री को बढ़ावा देंगे और आपस में उत्पन्न किसी भी विवाद को केवल शांति से हल करेंगे। आपसी तनाव को कम करने के लिए सन्धि में कहा गया कि कोई भी पक्ष सैनिकवाद को बढ़ावा नहीं देगा। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद सोवियत राष्ट्रपति गोर्वाच्योव ने कहा कि इस सन्धि के साथ यूरोप में एक नए युग की शुरूआत होगी। अब यूरोप में शीत युद्ध समाप्त हो चुका है और सब देशों को शांति से रहने का पूरा अवसर प्राप्त है।

वारसा व नाटो में ऐतिहासिक सन्धि पर हस्ताक्षर- 19 नवंबर, 1990 को पेरिस में नाटो व वारसा सन्धि देशों के उपशासनाध्यक्षों ने एक ऐतिहासिक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इस सन्धि के द्वारा यूरोप में शीत-युद्ध को समाप्त कर दिया गया। 200 पृष्ठों की इस संधि को तैयार करने में नाटो व वारसा पैक्ट देशों को 21 माह का समय लगा। सन्धि में दोनों गुटों के लिए सैनिकों की संख्या निर्धारित नहीं की गई लेकिन परंपरागत शस्त्रों की अधिकतम संख्या प्रत्येक के लिए इस प्रकार नियत की गई। टैंक 20,000, आर्म्ड पर्सनल कैरियर्स 30,000, आर्टीलरी पीसेज 20,000, लड़ाकू विमान 6800, लड़ाकू हैलीकाप्टर 2,000। सन्धि में जांच पड़ताल की भी व्यापक व्यवस्था की गई ताकि कोई भी पक्ष इसका उल्लंघन न कर सके। सन्धि पर हस्ताक्षर करने के बाद अमरीका के राष्ट्रपति जॉर्ज बुश ने कहा कि इस सन्धि से यूरोप में आपसी सदभाव व मैत्री का एक नया युग आरंभ होगा। 21 नवंबर, 1990 को शिखर बैठक सदभावनापूर्ण विचार-विमर्श के बाद समाप्त हो गई। यूरोपीय देशों ने दूसरे विश्व-युद्ध के बाद अपनी इस पहली शिखर बैठक में एक चार्टर को स्वीकार किया जिसमें उन्होंने लोकतंत्र, मानव अधिकारों व आर्थिक स्वतंत्रता के प्रति वचनबद्धता को स्वीकार किया। फ्रांस के राष्ट्रपति मित्तरां ने सबसे पहले इस चार्टर पर हस्ताक्षर किए। इस अवसर पर अमरीका के राष्ट्रपति जार्ज बुश व सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोवाच्योव ने कहा कि यूरोप में शीत युद्ध का एक कटु अध्याय समाप्त हो गया है। अब हम शांतिपूर्ण और स्थिर यूरोप की स्थापना कर सकेंगे।

बारसा पैक्ट समाप्त-शीत-युद्ध के दिनों में नाटो के प्रत्युत्तर में सोवियत संघ के नेतृत्व में वारसा पैक्ट का 9 मई, 1955 को निर्माण किया गया। इस संगठन के जरिए सोवियत संघ पूर्वी यूरोपीय देशों में एकछत्र प्रभाव-क्षेत्र कायम कर सका था। वारसा सन्धि के अनुच्छेद 5 के अंतर्गत एक संयुक्त सैनिक कमान बनाई गई जिसका मुख्यालय मॉसको में था। शीत-युद्ध की समाप्ति के माहौल में 1 जुलाई, 1991 को वारसा पैक्ट समाप्त कर दिया गया।

मॉस्को शिखर सम्मेलन तथा स्टार्ट सन्धि पर हस्ताक्षर- 31 जुलाई, 1991 को मॉस्को में अमरीकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश और सोवियत राष्ट्रपति मिखाइल गोर्वाच्योव के शिखर सम्मेलन में ''सामरिक हथियारों में कटौती'' की ऐतिहासिक सन्धि (स्टार्ट सन्धि) पर हस्ताक्षर हुए। सन्धि की शर्तों के अनुसार दोनों महाशक्तियां अपने परमाणु शस्त्रों में स्वेच्छा से 30 प्रतिशत कटौती करने को सहमत हो गई। यह सन्धि पहला बड़ा औपचारिक समझौता था जिसके माध्यम से सर्वाधिक खतरनाक एवं विनाशकारी शस्त्रों में इतनी कटौती के लिए स्वेच्छा से सहमति हुई। 'स्टार्ट सन्धि ' वास्तव में 'शीत युद्ध' के अंत की दिशा में ऐतिहासिक उपलब्धि है।

युद्ध निषेध के बारे में कोरियाई समझौता–1950 में कोरिया युद्ध शीत–युद्ध की चरम सीमा थी। कोरिया समस्या के दिनों में संयुक्त राष्ट्र संघ शीत–युद्ध का अखाड़ा बन गया था, किन्तु 12 दिसंबर, 1991 को 45 वर्ष पुराने प्रतिद्वंद्वी उत्तरी और दक्षिणी कोरिया ने सुलह–सफाई, शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व और समझौते पर हस्ताक्षर किये। अब दोनों कोरिया संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन चुके हैं। आशा है दोनों कोरिया राजनीतिक एकीकरण की दिशा में शीघ्र आगे बढ़ेंगे।

नाटो शस्त्र भंडारों में 80 प्रतिशत कटौती–अक्तूबर 1991 में नाटो सदस्य देश यूरोप में अपने परमाणु हथियारों के भंडार में 80 प्रतिशत की कटौती करने के बारे में सहमत हो गये। नाटो के 42 वर्षों के इतिहास में यह अब तक की सबसे बड़ी हथियार कटौती है। इस निर्णय के अंतर्गत पश्चिम यूरोप में 2,000 कम दूरी के प्रक्षेपास्त्र और तोपें तथा 700 ग्रेविटी बम हटाने की बात कहीं गई। उल्लेखनीय है कि 1950 के दशक से नाटो देशों ने शस्त्रों का जमाव करना आरंभ किया था जो बाद में बढ़ता ही गया। नाटो के पास परमाणु अस्त्रों का विशाल जखीरा है जिसकी अब, खासतौर से वारसा पैकट के भंग होने के बाद कोई आवश्यकता नहीं रही।

अफगान समझौता–अफगानिस्तान में सोवियत हस्तक्षेप (1979) से दूसरे शीत युद्ध की शुरूआत हुई थी। अफगान समस्या के समाधान के प्रयासों के अंतर्गत ही अमरीका तथा पूर्व सोवियत संघ ने 1 जनवरी 1992 से इस देश को सैन्य सामग्रियों की आपूर्ति पूर्णतः बंद कर दी। पहली बार किसी साम्यवादी शक्ति ने किसी दूसरे देश में पांव जमाने के बाद वहां से पांव हटाए। ज्ञातव्य है कि 12 सितंबर, 1991 को मास्को में सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका में इस आशय का समझौता हुआ था। वस्तुतः दोनों महाशक्तियों ने अफगानिस्तान में शांति बहाल करने की गारंटी दी।

किम दे जंग की प्योंगयांग यात्रा–दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति किम दे जंग 180 लोगों का प्रतिनिधि मंडल लेकर जब 13 जून, 2000 को उत्तर कारिया की राजधानी प्योंगयांग पहंचे तो इस धुर पूर्वी प्रायद्वीप से भी शीत युद्ध के अवशेष जीवाणु नष्ट होते नजर आए। इस यात्र ने कोरिया के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त कर दोनों देशों की सौहार्द, सहयोग तथा पुनरेकीकरण की ओर अग्रसर कर दिया।

5.5 सोवियत संघ का विघटन

विश्व व्यवस्था में 1917 ई. में जो महान परिवर्तन सोवियत संघ के प्रथम समाजवादी देश के रूप में उदय होने से आया था वह 1991 ई. के अंतिम महीनों में एक बार फिर महान परिवर्तन के रूप में विश्व व्यवस्था पर छा गया। सोवियत संघ जोकि 1945 से 1991 ई. तक विश्व राजनीति में एक महाशक्ति (Super Power) के रूप में भूमिका निभाता रहा आंतरिक आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं के कारण अपने को एक राज्य के रूप में संगठित न रख सका। अगस्त 1991 ई. में गोर्वाच्योव का शासन अपने आप को कट्टरवादी साम्यवादियों की क्रांति से तो बचा पाया परंतु नवंबर–दिसंबर 1991 में अपने आपको सुरक्षित न रख सका। तीन बाल्टिक राज्य Estonia, Latvia and Lithuania तो पहले ही स्वतंत्र राज्य बन चुके थे। शेष राज्य भी अपनी–अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने लगे। केंद्रीय नेतृत्व सोवियत संघ की एकता तथा अखंडता की रक्षा न कर पाया तथा संघीय इकाइयों ने अपनी–अपनी स्वतंत्रता को प्राप्त कर लिया। रूस, वोरिस येल्तसिन के नेतृत्व में सोवियत संघ का उत्तराधिकारी राज्य बना तथा नौ भूतपूर्व रूसी गणराज्यों ने स्वतंत्रता के पश्चात अपने आपको को एक राष्ट्रमंडल (Commoan Wealth) घोषित कर दिया। यह राष्ट्रमंडल एक ढीली व्यवस्था ही है। इसकी न तो कोई सांझी सरकार है और न ही इसके सदस्यों में एकता है। रूस तथा यूक्रेन में जल सेना के विभाजन, समुद्री बेड़े के विभाजन तथा परमाणु शस्त्रों पर स्वामित्व के प्रश्न पर उग्र मतभेद उभर पड़े। सोवियत संघ का पूर्ण विघटन हो गया। रूस अपने आप में एक कमजोर राज्य है। इसके पास परमाणु शस्त्र तो हैं परंतु इसकी आर्थिक व्यवस्था अत्यंत कमजारे है। यह पश्चिमी देशों पर निर्भर बना हुआ है। सोवियत संघ के विघटन पूर्वी यूरोप के उदारीकरण तथा वार्सा समझौते की समाप्ति के साथ ही शीत युद्ध भी पूर्णतया समाप्त हो गया।

5.6 शीत युद्ध की समाप्ति के अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव

शीत-युद्ध की समाप्ति के वर्षो (1985-91) में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के तनाव केंद्रों में कमी आई और कतिपय संकटपूर्ण समस्याओं का हल खोजना आसान हुआ। ईरान-इराक युद्ध की समाप्ति (1988), अफगान समस्या के समाधान (1988), नामीबिया की स्वतंत्रता (1988), कुवैत को मुक्त कराने (1991) में सुयंक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ ने मिल जुलकर कार्य किया और संयुक्त राष्ट्र संघ प्रभावी भूमिका अदा कर सका। खाड़ी संकट के दिनों में राष्ट्रपति बुश और गोर्वोच्योव में गजब की सहमति देखी गई। पश्चिम एशिया शांतिवार्ता का माहौल तैयार करने में सोवियत संघ ने अमरीका को पूर्ण सहयोग दिया। शान्ति वार्ता में भाग लने के लिए सीरिया को राजी करने में सोवियत पहल काफी सहायक सिद्ध हुई क्योंकि कई वर्षो से वह सीरिया को हथियार सप्लाई करता था। शीतयुद्ध की समाप्ति वाले परिवेश में ही दोनों महाशक्तियों के मध्य आई.एन.एफ. सन्धि पर हस्ताक्षर सम्भव हो सके। यह सन्धि टकराव को शान्ति में, विरोध को सहयोग में तथा सन्देह को विश्वास में बदलने का प्रयास है। सोवियत संघ को आर्थिक संकट से उबारने के लिए पश्चिमी देश आगे आए। सोवियत राष्ट्रपति गोर्बाच्योव ने जी-7 देशों के लंदन सम्मेलन में (जुलाई, 1991) भाग लिया। सोवियत संघ की मदद के लिए उसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा विश्व बैंक का सदस्य बना दिया गया। इसके अतिरिक्त जी-7 ने सोवियत संघ में यातायात, कानूनी एवं बैंकिंग प्रणाली स्थापित करने तथा ऊर्जा एवं खाद्य उत्पादन बढ़ाने मे भी पूरी-पूरी तकनीकी सहायता देने का वचन दिया।

शीत युद्ध के अन्त के साथ ही सोवियत संघ का अस्तित्व भी समाप्त हो गया। 26 सितम्बर, 1991 को सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत ने अपने अन्तिम अधिवेशन में सोवियत संघ को समाप्त किए जाने का प्रस्ताव पारित कर दिया और स्वयं के भंग होने के घोषणा कर दी। इसके साथ ही 70 वर्ष पुराने सोवियत संघ का अंत हो गया। गोर्बाच्योव ने तथाकथित 'परमाणु बटन' या 'ब्रीफकेस' रूसी नेता बोरिस येल्तसिन को सौंप दिए। विश्व के अनेक नेताओं ने गोर्बाच्ययोव की ऐतिहासिक दृष्टि और अपने देश में उदारवादी और लोकतान्त्रिक नीतियां अपनाने के वास्ते काफी सराहना की। गोर्बाच्योव द्वारा सत्ता का अन्तिम हस्तान्तरण जिस शान्तिपूर्ण ढंग से किया गया उसकी समूचे विश्व ने प्रशंसा की, विशेषकर एक ऐसे देश में जहां अतीत में सत्ता हस्तान्तरण राजनीतिक दांवपेचों या सशस्त्र सेनाओं के माध्यम से हुआ हो। वर्तमान और भावी इतिहासकार यह कलमबद्ध करेंगे कि मिखाइल गोर्बाच्योव ने एक जटिल व्यवस्था में न केवल लोकतान्त्रिक सुधार शुरू किए बल्कि वे अपने देश में लोकतन्त्र के उद्देश्य के लिए राजनीतिक शहीद भी हो गए। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गोर्बाच्योव को पूर्वी यूरोप में स्वतंत्रता का मसीहा, जर्मनी के एकीकरण का नायक स्वीकार किया जाता है। उन्होंने शिखर वार्ताओं और संवाद द्वारा राष्ट्रों के बीच दूरियों को पाटकर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को तनाव रहित बनाने का प्रयत्न किया। उन्हें शीत-युद्ध की समाप्ति और परमाणु अस्त्रों को समाप्त करने के उपाय शुरू करने का श्रेय दिया जाता है। विश्व राजनीति में 'हितों के सन्तुलन' (A balance of interest) ने 'भय के सन्तुलन' (A balance of terror) का स्थान ले लिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मुख्य मुद्दे 'सुरक्षा' और 'विचारधारा' के बजाय 'व्यापार' और 'पूजी निवेश' बन गया।

5.7 स्वयं जांच प्रश्न (प्रश्नों के उत्तर के लिए 5.10 देखें)

1. शीतयुद्ध का आरम्भ कब हुआ?
2. वारसा पैक्ट किस वर्ष समाप्त कर दिया गया था?
3. पूंजीवादी गुट का नेता कौन था?
4. साम्यवादी गुट का नेता कौन था?
5. सोवियन संघ का विघटन कब हुआ था?
6. शीत युद्ध के अन्त का सबसे बड़ा प्रतीक क्या था?

5.8 सारांश

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि शीत युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यापक रूप में प्रभावित किया था। विश्व दो परस्पर विरोधी गुटों में बंट गया था और दोनों गुटों द्वारा अपने-अपने प्रभाव के प्रसास के लिए अनेक प्रकार के हथकंडे प्रयोग किया गए थे। संयुक्त राष्ट्र असहाय दर्शक (Helpless Spectator) बन कर रहा गया था। बड़ी शक्तियों द्वारा आपस में युद्ध करने की अपेक्षा 'मुख्तारी युद्ध' (Proxy Wars) लड़े गए थे और छोटे तथा कमजोर राष्ट्रों को युद्ध के मैदान बनाए रखा गया था। इसके बाद शीत-युद्ध के कारण घातक शस्त्रों का व्यापक स्तर पर प्रसार हुआ था।

5.9 शब्दावली

खाड़ी - समुद्र का ऐसा विस्तार जिसमें अन्तः क्षेत्र तो काफी बड़ा होता है किन्तु निकास अत्यन्त छोटा होता है।

ग्लासनोस्त - खुलेपन के लिए रूसी शब्द।

प्रेस्त्रोइका - पुर्नसंरचना के लिए रूसी शब्द।

नाटो - नार्थ अटलांटिक ट्रीअटी ऑरगेनइजेशन

5.10 स्वयं जांच प्रश्नों के उत्तर

1. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद
2. 1991
3. अमेरिका
4. सोवियत संघ
5. 1991
6. वर्लिन की दीवार का गिरना।

5.11 ग्रन्थ सूची

1. वी.एन. खन्ना, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध,** (विकास पब्लिशिंग हाऊस, न्यू दिल्ली, 1999).
2. मथुरालाल शर्मा, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध,** (कॉलेज बुक डिपो, नई दिल्ली).
3. प्रभुदत्त शर्मा, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति,** (कॉलेज बुक डिपो, जयपुर).
4. हेरल्ड स्प्राउट तथा मार्गरेट स्प्राउट, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मूल तत्त्व,** (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ).
5. एस. वाधवा, **अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के आधार,** (अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2008, नई दिल्ली).
6. तपन बिस्वाल, **अंतर्राष्ट्रीय संबंध,** (ओरियंट ब्लैक स्वॉन, 2016).
7. ई.एच. कार, **दो विश्व युद्धों के बीच अंतर्राष्ट्रीय संबंध (1919-1939)** (लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा).
8. जी.एम.गेथोर्न हार्डी, **अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास,** (एस चंद एंड कंपनी, नई दिल्ली).
9. महेंद्र कुमार, **अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष,** (शिव अग्रवाल एंड कंपनी, जयपुर).
10. इमैनुअल वॉलस्टीन, **'द मॉर्डन वल्ड सिस्टम', तीन खंड** (न्यूयार्क : एकेडमिक प्रेस, 1989).
11. आर. डेनमार्क **'वर्ल्ड सिस्टम हिस्ट्री : फ्रॉम ट्रेडिशनल इंटरनैशनल पॉलीटिक्स टू द स्टडी ऑफ ग्लोबल रिलेशंस'** (इंटरनैशनल स्टडीज रिव्यू).

12. आर. जैक्सन, जी. सोरेनसन, Introduction to international Relations: Theories and Approaches (New York : Oxford University Press, 2009).
13. जे.ए. टिक्नर, 'Gendering world Poltics : Issues and approaches in the Past-Cold war Era' (Columbia : Colombia University Press, 2001).
14. जे. वेलिस एंड एस स्मिथ, 'The Globalization of world Politics : An introduction to international Relations (Oxford University Press, 2011).
15. ए. वेन्गर एंड डी. जिमरमैन, International Relations : form the cold war to the Globalized world, (London : Lynne Riennor Press, 2003).
16. अपादोराई एंड एम.ए. राजन, 'India's foreign Policy and Relations, (New Delhi : South Asian Publishers 1985).

5.12 स्वयं जाच परिक्षण एवं अभ्यास प्रश्न

1. नए शीत युद्ध का आरम्भ कैसे हुआ? इसके कारणों का वर्णन करों।
2. नए शीत युद्ध पुरानी शीत युद्ध से किस प्रकार भिन्न था, वर्णन करों।
3. अन्तर्राष्ट्रय सम्बन्धों में नए शीत युद्ध का अन्त कैसे हुआ, विवेचना कीजिए।

*****

इकाई–3
अध्याय–6
शीतयुद्धोतर काल और शक्ति के उभरते केन्द्र
(Post Cold war Era and Emerging Centres of Power-European Union, China, Russia & Japan)

संरचना

6.0 भूमिका
6.1 अधिगम उद्देश्य
6.2 यूरोपियन यूनियन
6.3 चीन
6.4 रूस
6.5 जापान
6.6 निष्कर्ष
6.7 शब्दावली
6.8 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.10 इकाई अंत प्रश्न

6.0 भूमिका

जिस तरह 40 के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक प्रकार के परिवर्तन आए थे और उन परिवर्तनों ने विश्व राजनीति को एक नवीन दिशा प्रदान की थी उसी तरह के परिवर्तन 80 के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आए थे। 80 के दशक में जहाँ अमेरिका और सोवियत संघ ने अमेरिका द्वारा स्टार्स वार की घोषणा के पश्चात् अपने–अपने आण्विक अस्त्रों–शस्त्रों में कटौती करनी आरम्भ कर दी, वहीं सोवियत संघ ने भी पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों पर से अपने नियन्त्रण को ढीला कर दिया था। इसके कारण पूर्वी यूरोप के देशों ने एक–एक करके साम्यवादी शासन के चोले को उतार फेंका था। पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी के लोगों ने बर्लिन की दीवार को गिरा दिया था और 1990 में जर्मन गणराज्य की नींव रखी थी। ईरान–इराक युद्ध की 1988 में समाप्ति ने इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, परन्तु पश्चिमी एशिया में शान्ति की स्थापना अभी दूर की कौड़ी ही सिद्ध हुई थी। 90 के दशक के प्रारम्भ में सोवियत संघ के अनेकों गणराज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात एक ध्रुवीय व्यवस्था का उदय हुआ। 1991 में शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् विश्व एक ध्रवीय हो गया तथा विश्व पर अमेरिका का सम्पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया, 1990 के दशक में अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभुत्व को चुनौती देने वाला कोई देश या संस्था नजर नहीं आ रही थी।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के वैकल्पिक केन्द्रों में यूरोपीय यूनियन, एशिया में जापान, चीन तथा रूस ने अमेरिका को प्रत्येक क्षेत्र में कड़ी चुनौती पेश की है। इसके अलावा दक्षिण

अफ्रीका और नाइजीरिया भी क्षेत्रीय शक्तियों के रूप में यहाँ उभरे हैं। क्षेत्रीय स्तर पर उभरे आर्थिक समुदायों यूरोपीय संघ और आासियान ने अपने–अपने क्षेत्रों में जारी संघर्ष और दुर्बलताओं पर नियन्त्रण पा लिया है। इन सबके बीच चीन ने 1975 के पश्चात् एक बड़ी वैकल्पिक आर्थिक शक्ति के रूप में अपनी पहचान बनाई है और विश्व व्यवस्था को प्रभावित किया है।

6.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के उपरान्त छात्र मुख्य रूप से–

1. यूरोपीय संघ के बारे में जान सकेंगे।
2. चीन, रूस और जापान के बारे में उभरते शाक्ति केन्द्रों के रूप में जानकारी प्राप्त करने में सहायक होगें।

6.2 शीतयुद्धोतर काल और शक्ति के उभरते केन्द्र : यूरोपीय संघ

प्रथम उभरती शक्ति के रूप में यूरोपीय यूनियन का नाम लिया जाता है, क्योंकि विश्व स्तर पर यूरोपियन यूनियन का आर्थिक, सैनिक, राजनैतिक तथा कूटनीतिक रूप में काफी प्रभाव है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन, फांस, जर्मनी तथा इटली इत्यादि का यूरोप से सैनिक महत्त्व समाप्त हो गया और यूरोप में केवल एक ही बड़ी शक्ति रह गई– सोवियत संघ। सोवियत संघ ने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद बड़ी तेजी से पूर्वी देशों को साम्यवादी रंग में रंगना शुरू कर दिया, जिसके कारण पश्चिमी यूरोप के पूंजीवादी देशों में भय पैदा हो गया। इसे ध्यान में रखते हुए ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री चर्चिल ने यूरोपीय समुदाय की व्यवस्था की स्थापना पर बल दिया। अन्य पश्चिमी देशो ने इस पर अपनी सहमति प्रकट की। उन देशों द्वारा सहमति प्रकट करने के दो कारण थे। पहला अपनी सुरक्षा के लिए मिलकर कदम उठाना। दूसरे सामाजिक व आर्थिक एकीकरण द्वारा अपने को शक्तिशाली व खुशहाल बनाना। यूरोपीय संघ यूरोपीय देशों का एक क्षेत्रीय संगठन है। यूरोपीय संघ का अपना झण्डा, गान, स्थापना दिवस तथा मुद्रा है, जो इसे शक्तिशाली स्थिति प्रदान करते हैं। यूरोपीय संघ का विश्व राजनीति में आर्थिक, राजनैतिक, कूटनीतिक तथा सैनिक महत्त्व बहुत अधिक है। यूरोपीय संघ विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। फ्रांस संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य है, तथा इसके पास परमाणु हथियार भी है। यूरोपीय संघ के पास विश्व की दूसरी सबसे बड़ी सेना है। ये सभी तत्त्व यूरोपीय संघ को एक प्रभावशाली संगठन बनाते है परन्तु ब्रिटेन का यूरोपियन संघ से बाहर जाने के कारण इसके प्रभाव क्षेत्र में काफी कमी आई है क्योंकि ब्रिटेन यूरोपियन संघ का महत्वपूर्ण साझीदार था अपितु यू.एन.ओ. सुरक्षा परिषद् का भी स्थायी सदस्य है। सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने वचन दिया कि यदि हस्ताक्षर करने वाले सदस्य राष्ट्रों पर कोई देश आक्रमण करता है तो ऐसा आक्रमण अन्य राष्ट्रों पर भी किया गया आक्रमण समझा जाएगा। ऐसे समय में सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देश उसे सैनिक तथा दूसरे तरह की सहायता देंगे।

1. यूरोपियन संघ का गठनः

यूरोपियन संघ मुख्यत यूरोप में स्थित 28 देशों का एक राजनैतिक एवं आर्थिक मंच है जिनमें आपस में प्रशासकीय साझेदारी होती है जो संघ के कई या सभी राष्ट्रो पर लागू होती है। इसका अभ्युदय 1957 में रोम की संधि के द्वारा यूरोपिय आर्थिक परिषद के माध्यम से छह यूरोपिय देशों की आर्थिक भागीदारी से हुआ था। तब से इसमें सदस्य देशों की संख्या में लगातार बढोत्तरी होती रही और इसकी नीतियों में बहुत से परिवर्तन भी शामिल किये गये। 1993 में मास्ट्रिच संधि द्वारा इसके आधुनिक वैधानिक स्वरूप की नींव रखी गयी। दिसम्बर 2007 में लिस्बन समझौता जिसके द्वारा इसमें और व्यापक सुधारों की प्रक्रिया 1 जनवरी 2008 से शुरु की गयी है। इसका उदय द्वितीय विश्व युद्धोतर काल में खोजा जा सकता है । मार्शल योजना

के अंर्तगत जब शीत युद्ध के पश्चात पुर्न निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ तो यूरोपीय शक्ति और सुरक्षा हेतु संगठित यूरोप के विचार को आधार बनाया गया और मार्शल योजना के तहत यूरोपीय संघ की उत्पति हुई। तब से लेकर आज तक यह विश्व की सबसे बड़ी सैन्य और आर्थिक व्यवस्था है जिसमें शीत युद्धोतर काल में विश्व राजनीति को व्यापक प्रभावित किया। 1990 में शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात अमेरिका के प्रभुत्व को चुनौती देने वाली सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। यूरोपीय संघ एकल बाजार एवं एकल मुद्रा को मान्यता देता है। यह समान सेवाओं तथा पूंजी का स्वतंत्र आदान प्रदान तथा सभी राष्ट्रों को एक बराबर अधिकार देता है। यह विश्व के घरेलू उत्पाद का लगभग 31 प्रतिशत योगदान करता है। यूरोपीय संघ को वर्ष 2012 में यूरोप में शांति और सुलह, लोकतंत्र और मानव अधिकारों की उन्नति में अपने योगदान के लिए नोबेल शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

2. महत्वपूर्ण संस्थानः

यूरोपीय संघ के महत्वपूर्ण संस्थानों में यूरोपियन कमीशन, यूरोपीय संसद, यूरोपीय संघ परिषद, यूरोपीय न्यायलय एवं यूरोपियन सेंट्रल बैंक इत्यादि शामिल हैं। यूरोपीय संघ के नागरिक हर पाँच वर्ष में अपनी संसदीय व्यवस्था के सदस्यों को चुनती है।

3. यूरोपीय परिषद

जिसे काउंसिल ऑफ मिनिस्टर्स के नाम से भी जाना जाता है, के आधे सदस्य संघ की न्यायिक व्यवस्था का हिस्सा होते है। न्यायिक कामों के अलावा परिषद विदेश एवं सुरक्षा नीतियों के कार्यान्विण एवं निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यूरोपीय संघ में उच्च स्तर के राजनैतिक निर्णय के लिए नेतृत्व **यूरोपीय काउंसिल** अर्थात यूरोपीय परिषद द्वारा किया जाता है। यूरोपीय परिषद की बैठक साल में चार बार होती है एवं इसकी अध्यक्षता उस साल यूरोपीय संघ का अध्यक्ष राष्ट्रप्रमुख करता है जिसका मुख्य कार्य यूरोपीय संघ की नीतियों के अनुरूप काम करना एवं भविष्य के लिए दिशा निर्देश जारी करना होता है।

4. यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय

इस समुदाय की स्थापना 18 अप्रैल, 1951 में फ्रांस के विदेश मन्त्री शुमा के सुझाव पर की गई। इस समुदाय का मुख्य कार्य हस्ताक्षर करने वाले सदस्य राष्ट्रों के कोयले एवं इस्पात के उत्पादन व वितरण पर नियन्त्रण रखना और इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करके सदस्य राज्यों के कोयले व इस्पात के साधनों की एक सामान्य मण्डी बनाकर उनके उपयोग की सुव्यवस्था करना।

5. यूरोपीय आर्थिक समुदाय

1947 में अमेरिकी विदेश मन्त्री मार्शल द्वारा प्रस्तुत योजना के आधार पर ही यूरोपीय राज्यों ने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए 1948 में एक यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन का निर्माण किया। इस पर फ्रांस, पश्चिमी, जर्मनी, बेल्ज़ियम, इटली आदि देशों ने हस्ताक्षर किए। इस समुदाय का मुख्य उधेश्य सदस्य देशों में चुंगी की दीवारों को गिराना तथा खेती-बाड़ी, मजदूरों, यातायात के सम्बन्ध में नीतियां बनाना है। विश्व के विभिन्न प्रादेशिक आर्थिक संगठनों में यूरोपीय आर्थिक समुदाय सर्वाधिक सफल रहा है। इस संगठन के सभी सदस्य समृद्ध विकसित देश हैं। अमेरिकी राज्यों के संगठन की भांति कोई एक राष्ट्र इसमें सर्वाधिक शक्तिशाली नहीं है। इसीलिए यह राष्ट्र मिलकर आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से अमेरिका व सोवियत संघ से श्रेष्ठ हो गए हैं। जर्मनी के एकीकरण के बाद इसके 12 सदस्य राष्ट्रों ने इसकी अधिक सुदृढ़ता पर बल दिया।

6. यूरोपीय आण्विक शक्ति समुदाय

यह संगठन यूरोप में आण्विक शक्ति का शांतिपूर्ण ढंग से प्रयोग का पक्षधर है। इसकी स्थापना जनवरी, 1958 में हुई और इसके चार्टर पर फ्रांस, जर्मनी गणराज्य, इटली, हालैण्ड, बेल्जियम और लक्मसबर्ग ने हस्ताक्षर किए। इस समुदाय का सदस्य बनने के लिए ब्रिटेन ने भी आवेदन किया जिसे अस्वीकार कर दिया गया।

7. यूरोपीय मुक्त व्यापार समुदाय

इस प्रादेशिक संगठन की स्थापना ब्रिटेन के प्रयासों से हुई क्योंकि यूरोप सामान्य मंडी से ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक हितों को हानि पहुंची थी। इसके अन्तर्गत तट कर कम करने की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त सदस्य राष्ट्रों को गैर-सदस्य राष्ट्रों से चुंगी लेने का अधिकार प्रदान किया गया है। परन्तु ब्रिटेन को राष्ट्र मण्डल के सदस्य देशों के साथ व्यापार करने की छूट दी गई।

8. यूरोपीय प्रतिरक्षा समुदाय

इस सन्धि का उधेश्य यूरोप में एक साझी सेना, साझा बजट और राष्ट्रीय से उठा हुआ एक राजनीतिक संगठन बनाना था। इसकी स्थापना मई, 1952 में हुई। इस सन्धि के परिणामस्वरूप सम्भावित साम्यवादी आक्रमण के भय को पूर्णतः खत्म कर दिया गया। परन्तु शीघ्र ही इसको समाप्त कर दिया गया क्योंकि सोवियत नेता स्टालिन की मृत्यु से सम्भावित रूसी आक्रमण की आशंका कम हो गई थी, आण्विक हथियारों के आविष्कार ने स्थल सेना के महत्त्व को कम कर दिया।

9. यूरो मुद्रा

यूरो यूरोपीय संघ के 28 अब 27 में से 19 सदस्य राष्ट्रों की आधिकारिक मुद्रा है, जिन्हें सामूहिक रूप से यूरोजोन कहा जाता है। इसमें आस्ट्रिया, बेल्जियम, साइप्रस, फिनलैंड, फ्रांस, जर्मनी, ग्रीस, आयरलैंड, इटली, लग्जम्बर्ग, माल्टा, नीदरलैंड, पुर्तगाल, स्लोवेनिया, स्लोवाकिया और स्पेन शामिल हैं। इसके अलावा पांच अन्य यूरोपीय देशों में आधिकारिक सहमति या बिना सहमति के भी यह प्रचलन में है। अमेरिकी डॉलर के बाद यूरो दुनिया में दूसरी सबसे सुरक्षित रखने वाली और प्रचलन में रहने वाली मुद्रा है। यूरो नाम आधिकारिक रूप से 16 दिसम्बर 1995 को अपनाया गया। वैश्विक बाजार में इसे यूरोपियन करेंसी यूनिट के स्थान पर सम मूल्य पर 1 जनवरी 1999 को जारी किया गया।

10. यूरोपियन यूनियन और ब्रिटेन:

ब्रिटेन यूरोपियन यूनियन का एक महत्वूपर्ण साझीदार है। 23 जून, 2016 को ब्रिटेन में एक जनमत संग्रह में वहां के लोगों ने यूरोपियन यूनियन से बाहर जाने का फैसला किया। तत्कालीन प्रधानमंत्री डैविड कैमरून यूरोपियन संघ में बने रहना चाहते थे परन्तु जनमत संग्रह में लोगों ने इससे बाहर जाने का फैसला किया। अंततः डेविड कैमरून को त्यागपत्र देना पड़ा और ब्रेक्सिट के कारण यूरोपियन संघ ने एक चरणबद्ध तरीके से 2019 तक लिस्बन संधि के अनुच्छेद 50 के अनुसार यूरोपियन संघ से हटने की प्रक्रिया शुरू कर दी है। ब्रिटेन के यूरोपियन संघ से हटने के कारण इसके अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर व्यापक असर पड़ा है क्योंकि ब्रिटेन यूरोपियन यूनियन का एक बड़ा भागीदार था।

निष्कर्ष:

अंततः कहा जा सकता है कि यूरोपियन यूनियन 1990 के पश्चात उत्पन्न अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अमेरिका के प्रभुत्व को चुनौती देने वाली एक महत्वपूर्ण संस्था थी। ब्रिटेन के इससे बाहर होने के पश्चात भी यह आज भी विश्व समुदाय में अपनी स्थिति बनाए हुए हैं। यह विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था एवं सैन्य क्षमता वाला संगठन है। तकनीकी तथा सैन्य क्षमताओं के कारण यह आज भी महत्वपूर्ण है।

6.3 चीन का विश्व शक्ति के रूप में उदय

हाल के वर्षों में चीन के त्वरित विकास ने विश्व का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में चीन एक सैन्य तकनीकी एवं आर्थिक महाशकित के रूप में विश्व पटल पर उभरा है। उभरती हुई शक्ति के रूप में चीन को सबसे अग्रणी माना जा रहा है। माओ-त्से तुंग ने 1949 में साम्यवादी क्रान्ति द्वारा चीन में साम्यवादी शासन की नींव रखी। इसके पश्चात् साम्यवादी चीन ने बड़ी तेजी से अपना विकास किया है तथा अमेरिका के मुकाबले सत्ता के एक महत्त्वपूर्ण विकल्प के रूप में सामने आया है। माओ युग के पश्चात् 1978 से आर्थिक क्षेत्र में चीन की सफलता को एक महाशक्ति के रूप में देखा जा रहा है। आर्थिक सुधारों को लागू करके चीन ने वर्तमान समय में ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली है, कि कई आर्थिक विशेषज्ञों का यह अनुमान है कि 2040 तक चीन की आर्थिक व्यवस्था अमेरिका की आर्थिक व्यवस्था से भी आगे निकल जाएगी। चीन की जनसंख्या लगातार तेजी से बढ़ रही थी, जो उसकी आर्थिक विकास की दर में बाधा बन रही थी। इन सभी बाधाओं को दूर करने के लिए 1970 के दशक में चीनी शासकों ने कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए। 1972 में चीन ने अमेरिका से अपने राजनीतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध बनाए। 1973 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री चाऊ एन लाई ने कृषि, उद्योग, सेना तथा विज्ञान प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आधुनिकीकरण के चार प्रस्ताव पेश किए। 1978 में चीनी नेता देंग श्याओ पेंग ने खुले द्वार (Open Door) की नीति की घोषणा करके आर्थिक सुधारों की शुरूआत की। चीनी नेताओं ने विवेकपूर्ण निर्णय लेते हुए रूसी आर्थिक मॉडल 'शॉक थेरेपी' को न अपनाकर चरणबद्ध ढंग से अपनी अर्थव्यवस्था को विश्व बाजार के लिए खोला। 1982 एवं 1998 में चीन ने क्रमशः कृषि एवं औद्योगीकरण का निजीकरण किया, ताकि विदेशी निवेशकों को आकर्षित किया जा सके। चीन आर्थिक विकास के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना की।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चीन के सम्बन्ध में नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था कि "वहॉं एक दैत्य सो रहा है, उसे सोने दो, यदि वह जाग गया तो दुनिया को हिला देगा।" द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व चीन को 'एशिया का रोगी' (The Sickman of Asia) कहा जाता था। परन्तु अक्तुबर, 1949 में हुई साम्यवादी क्रान्ति ने इस धारणा को गलत सिद्ध कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मंच पर आज अनेक कारणों से चीन का विशिष्ट महत्त्व है। 1975 में माओ की मृत्यु के पश्चात् चीन में आर्थिक सुधारों को अपनाया और इन आर्थिक सुधारों ने चीन को विश्व की एक बड़ी आर्थिक शक्ति बना दिया है। फ्रीडमैन के शब्दों में, ''साम्यवादी नेतृत्व में एक एकीकृत राष्ट्रीय शक्ति के रूप में चीन का उदय पिछले कुछ वर्षो की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है।''

चीन का विश्व शक्ति के रूप में उदय के निम्न कारण है:-

1. **आगे बढ़ने की इच्छा**- साम्यवादी चीन पर अपने अस्तित्व के बाद से ही आगे बढ़ने की धुन सवार हो गई थी। अक्तूबर, 1949 के बाद से ही चीनी नेता चीन को एक सैनिक व आर्थिक महाशक्ति के रूप में देखना चाहते थे इसलिए उन्होंने समय-समय पर ऐसे सुधार किए जो कि चीन को आगे ले जाने मे सहायक सिद्ध हो सकें। माओ की मृत्यु के पश्चात् देंग-जियाओ-पेंग ने सुधारों की ऐसी हवा चलाई जो आज भी बिना बाधा के जारी है। पेंग द्वारा चालू किए गए इन सुधारों के पीछे एकमात्र उद्देश्य चीन को आर्थिक महाशक्ति के रूप में प्रस्थापित करना था। वर्तमान राष्ट्रपति **शी जिनपिंग** का कुशल नेतृत्व भी चीन को विश्व शक्ति बनाने की ओर अग्रसर है।
2. **विकास का नया मॉडल**- अक्तूबर, 1949 में हुई साम्यवादी क्रांति के पश्चात् चीनी गणराज्य की स्थापना के समय वहॉं पर आर्थिक विकास का सोवियत मॉडल प्रचलित था। चीन को काफी

समय तक तो सोवियत संघ से अपने विकास के लिए सहायता मिलती रही, परन्तु कुछ समय के पश्चात् सोवियत संघ से मतभेद उत्पन्न होने पर चीन ने अपने आर्थिक विकास के लिए विकास का नया मॉडल अपना लिया था। इस नए मॉडल के अन्तर्गत चीन ने खेती से अर्जित धन का प्रयोग उद्योगीकरण में किया था। इन उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण बनाए रखा गया। विदेशी मुद्रा और तकनीक की कमी होने के कारण चीन ने घरेलू स्तर पर ही आयात्तित माल तैयार करने पर बल दिया था। इसके कारण जहाँ चीन में तकनीकी विकास को बल मिला वहीं चीन की एक बड़ी आबादी को रोज़गार मिलने से बेरोज़गारी को कम करने में सहायता मिली थी।

3. **घरेलू संसाधनों का समुचित प्रयोग**– चीन के विश्व शक्ति के रूप में उभरने का तीसरा मुख्य कारण चीन द्वारा घरेलू संसाधनों का समुचित प्रयोग करना भी है। अक्तूबर, 1949 में हुई साम्यवादी क्रांति के पश्चात् चीन, सोवियत संघ पर अधिक निर्भर नहीं रह सका था। दूसरे सोवियत संघ ने भी चीन को सहायता देने सम्बन्धी अपने हाथ पीछे खींच लिए थे। इसीलिए चीन ने अपने देश में ही उपलब्ध संसाधनों का सदुपयोग करने का निश्चय किया जिसका परिणाम यह निकला कि चीन धीरे-धीरे आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ा और फिर एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में उभर कर दुनिया के सामने उपस्थित हुआ।

4. **कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण**– चीन के महाशक्ति के रूप में उभरने का चौथा प्रमुख कारण चीनी नेतृत्व द्वारा कल्याणकारी योजनाओं का निर्माण करना था। चीन ने अपने सभी नागरिकों को रोजगार और सामाजिक कल्याण सम्बन्धी योजनाओं का लाभ देने के दायरे में लाया गया और अपने नागरिकों को शिक्षित करने और उन्हें स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराने के मामले में चीन विकसित देशों से भी आगे निकल गया। चीन में सामान्य शिक्षा के साथ-साथ तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के विकास पर बल दिया जिसके कारण चीन में इंजीनियरों, डॉक्टरों, तकनीकी प्रशिक्षुओं आदि की एक बड़ी फौज एकत्र हो गई थी जिसने चीन के रचनात्मक विकास में बड़ा योगदान दिया।

5. **योग्य नेतृत्व**– चीन के आर्थिक शक्ति के रूप में उभरने का एक मुख्य कारण चीन में योग्य नेतृत्व का पाया जाना है। अक्तूबर, 1949 में हुई साम्यवादी क्रांति के पश्चात् चीन ने माओ के योग्य नेतृत्व में अपना विकास किया था। 1975 में माओ की मृत्यु के पश्चात् चीन के नेतृत्व की कमान देंग-जियाओ-पेंग के हाथों में आ गई थी, उन्होंने चीन में आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया को आरम्भ किया जोकि आज भी जारी है। इसके अतिरिक्त चीनी नेतृत्व की एक अन्य विशेषता यह है कि चीन के अधिकांश नेता, इन्जीनियर, सूचना प्रौद्योगिकी के प्रशिक्षु तथा तकनीकी रूप से कुशल है, जो कि देश को समय-समय पर कुशल नेतृत्व देने में सहायक है। स्पष्ट है कि चीन के आर्थिक विकास में वहाँ के नेताओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके द्वारा अपनाए गए महत्त्वपूर्ण साधनों का वर्णन इस प्रकार है:-

6. **खुले द्वार की नीति**– माओ की मृत्यु के पश्चात् 70 के दशक में चीनी नेतृत्व ने कई बड़े नीतिगत निर्णय लिए थे। चीन ने 1972 में अमेरिका से सम्बन्ध बनाकर अपने राजनीतिक और आर्थिक एकांतवास को समाप्त कर दिया था। 1973 में प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई ने कृषि, उद्योग, सेना और विज्ञान, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में आधुनिकीकरण के चार प्रस्ताव रखे थे। देंग ने 1978 में कृषि में सुधार करने पर बल दिया जिसमें उत्पादकीय इकाइयों का विकेन्द्रीकरण, व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था तथा स्वतन्त्र बाजार द्वारा पोषण कदम जैसे यातायात, ऊर्जा तथा शिक्षा व्यवस्थाएँ,

औद्योगिक उन्नति के लिए आवश्यक बताया। ऐसी स्थिति चीन के अनुसन्धान तथा विकास के सामर्थ्यो की संयुक्त राज्य की बराबरी करने के स्तर तक विकसित कर देगी। देंग द्वारा ही 1978'खुले द्वार की नीति' की घोषणा की गई थी। अब नीति यह हो गई कि विदेश पूंजी और प्रौद्योगिकी के निवेश से उच्चत्तर उत्पादकता को प्राप्त किया जाए। बाजार मूलक अर्थव्यवस्था मे अपनाने के लिए चीन ने अपना नया मार्ग अपनाया था।

7. **खेती का निजीकरण**– 1982 में चीन में नया संविधान लागू हुआ था। इस संविधान के द्वारा चीन में आर्थिक सुधारों को जारी रखने की नीति का समर्थन किया था। इसके अन्तर्गत चीन मं होने वाली सार्वजनिक कृषि या खेती को निजी हाथों में सौंप दिया गया था। यद्यपि चीन की इस नीति से आम जनता में रोष उत्पन्न हुआ, परन्तु इसके आश्चर्यजनक परिणाम निकले और चीन में उपज की पैदावार काफी बढ़ गई थी। खेती का निजीकरण आर्थिक सुधारों की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था।

8. **उद्योगों का निजीकरण**– चीन में आर्थिक सुधारों का आरम्भ यद्यपि 1975 के पश्चात् हो चुका था, परन्तु चीन में उद्यमों पर सरकारी नियन्त्रण 1998 तक बना रहा था। चीन में 1998 तक सभी तरह के उद्योग-धन्धों पर चीनी सरकार का कड़ा नियन्त्रण था। सरकारी नियन्त्रण होने के कारण चीन के अनेकों सार्वजनिक उद्योग घाटे में चल रहे थे। अतः घाटे में चलने वाले इन उद्योगों से चीन को प्रतिवर्ष करोड़ों युआन की क्षति पहुँच रही थी। इसलिए, 1998 मे चीन में सार्वजनिक उद्यमों व उपक्रमों का विनिवेश करने की प्रक्रिया आरम्भ की ताकि इन सार्वजनिक उद्यमों को बेचकर इनसे अर्जित धन का प्रयोग अन्य क्षेत्रों में किया जाए। सार्वजनिक उद्योगों के स्थान पर उभर कर सामने आए निजी उद्योगों ने चीन में औद्योगिक विकास का एक नया इतिहास रच दिया था। इसके साथ ही चीन सरकार अब कृषि के साथ-साथ उद्योगों के विकास पर भी काफी बल देने लगी थी।

9. **नई व्यापारिक व आर्थिक नीतियां**– चीन में आर्थिक सुधारों की गति को तेज करने में 1998 में चीन द्वारा अपनाई गई नई व्यापारिक एवं आर्थिक नीतियों ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। नई व्यापारिक व आर्थिक नीतियों के कारण व्यापार व आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर किया गया, इससे चीनी अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर तेज़ रही। नई व्यापारिक नीति से तथा विशेष आर्थिक क्षेत्रों (Special Economic Zone-SEZ) के निर्माण से विदेशी व्यापार में भारी वृद्धि हुई। इसके कारण चीन पूरे विश्व में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के लिए सबसे आकर्षक देश बनकर उभरा।

10. **विदेशी मुद्रा का भंडार**– चीन के आर्थिक शक्ति के रूप में उभरने में चीन में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। इसके कारण चीन में विदेशी मुद्रा का काफी बड़ा भंडार एकत्र हो गया था। इसके परिणामस्वरूप ही चीन ने दूसरे देशों में निवेश की योजना तैयार की थी। 1977 तथा 1987 के मध्य उत्तर माओ काल में चीन ने प्रति पूंजी उपज को दो गुणा करके विश्व रिकार्ड स्थापित किया था। विश्व बैंक की खरीददारी शक्ति की रिपोर्ट के अनुसार चीन के पास वर्ष 2012 में 30,000 अरब डालर का विदेशी मुद्रा भण्डार था जिससे वह विश्व में संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चात् दूसरी बड़ी आर्थिक शक्ति बन गया है।

11. **युआन कूटनीति**– 1976 में माओ की मृत्यु के पश्चात् चीन ने अपने आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए विदेश नीति में काफी परिवर्तन किए थे। इनमें अमेरिका जैसे पूंजीपति देश

के साथ मित्रता, तोड–फोड़ की नीति को छोड़ना, तटस्थ देशों को मित्र बनाना तथा उनमें अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता देना। अमेरिका की डॉलर कूटनीति की भांति जब चीन ने अपनी मुद्रा युआन के रूप में दूसरे देशों का प्रचुर मात्रा में आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया तो इसे 'युआन कुटनीति' कहा जाता है। यह सहायता चीन द्वारा 5 से 10 वर्ष बाद, 10 से 30 वर्ष की लम्बी अवधी के ऋण के रूप में, मशीनी माल तथा तकनीकी विशेषज्ञों के रूप में दी थी। इस प्रकार चीन ने एशिया व अफ्रीका के देशों में अपने आर्थिक साम्राज्यवाद की नींव रखी और स्वयं को एक आर्थिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया था। 2011 में यूरोपीय देशों में आए आर्थिक संकट के समय यूरोपीय देश आर्थिक सहायता के लिए चीन की ओर देख रहे थे।

12. **विश्व व्यापार संगठन का सदस्य**– सोवियत संघ के विघटन के पश्चात् चीन के आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में उभरने के परिणामस्वरूप चीन, अमेरिका की आंखों में खटकरने लगा था। जनवरी, 1995 में गैट (ळ।ज्ज) के स्थान पर विश्व व्यापार संगठन (World Trade Organisation-W.T.O.) अस्तित्व में आया था। अमेरिका नहीं चाहता था कि चीन विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बने क्योंकि यदि चीन इस संगठन की सदस्यता प्राप्त कर लेगा तो सारे बाजार पर अमेरिका वर्चस्व की अपेक्षा चीनी वर्चस्व स्थापित होने की सम्भावना थी। परन्तु अमेरिका के प्रयत्नों के बावजूद 2001 में चीन विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बन गया। चीन को इसका लाभ यह पहुँचा कि अब वह निर्बाध रूप में इस संगठन के सभी सदस्य देशों में अपना तैयार माल आसानी से बेच सकता था। साथ ही साथ दूसरे देशों को चीन में पूंजी निवेश करने के लिए आकर्षित कर सकता था। इस तरह चीन ने दूसरे देशों के लिए अपनी अर्थव्यवस्था खोलने की दिशा में एक ओर कदम बढ़ाया।

13. **सेना का आधुनिकीकरण:** चीन ने पिछले कुछ वर्षो में अपनी सेना का भी आधुनिकीकरण करके उसे विश्व स्तरीय बनाया है। सन् 2013 में चीनी राष्ट्रपति श्री जिंनपिंग ने विश्व के आर्थिक प्रभाव को को बढ़ाने के लिए वन बेल्ट वन रोड जैसे बुनियादी कार्यक्रम की घोषणा की थी। मई 2017 में चीन ने इससे सम्बन्धित एक सम्मेलन किया जिसमें विश्व के 80 से अधिक देशों ने भाग लिया था। इन देशों में एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीप के देश शामिल थे। चीन अपने वन बेल्ट वन रोड जैसे आर्थिक सपने को पूरा करने के लिए इन देशों में में बड़े स्तर पर पूंजी निवेश करेगा, जिसका उद्देश्य इन देशा में सड़क निर्माण, बिजली उत्पादन, हवाई अड्डों का निर्माण तथा पाईपालाईन बिछाना होगा। चीन का यह पूरा निवेश वैश्विक जी.डी.पी. के एक तिहाई के समान है तथा विश्व जनसंख्या का 60 प्रतिशत है।

निष्कर्ष:

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि 1949 में साम्यवादी क्रांति के पश्चात चीन ने प्रत्येक क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज की है। माओ–त्से–तुंग, शी जिनपिंग की नीतियों के कारण चीन ने न केवल अमेरिका को चुनौती प्रस्तुत की है अपितु यह आज विश्व की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। सैन्य तथा तकनीकी क्षेत्र में चीन ने अथाह विकास किया है।

6.4 रूस

उभरती हुई शक्ति के रूप में अन्य विकल्प रूस को माना जा रहा है। यद्यपि सोवियत संघ के विद्यटन के पश्चात् 1990 के दशक में रूस कमजोर हो गया था, परन्तु पिछले कुछ वर्षो से इसने स्वयं को

इस तरह से संगठित किया है कि इसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। ब्लादिमीर पुतिन के नेतृत्व में रूस ने आशा से अधिक उन्नति की है तथा अपने आपको सैनिक एवं आर्थिक रूप से शक्तिशाली बनाया है।

1991 के अंत में सोवियत संघ के विघटन एवं अपनी आजादी के समय से ही राजनैतिक व्यवस्था कायम करने में रूस को कापफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। रूस की राजनैतिक दिशा एवं उसके पालन हेतु सरकारी तंत्रा के गठन के विषय में वहाँ की विधायिका एवं कार्यपालिका के अग्रणी लोगों की विचारधारा परस्पर विरोधी रही है। सितम्बर और अक्टूबर 1993 में यह मतभेद चरम पर पहुँच गया तब संसद भंग करने एवं नये चुनाव कराने हेतु राष्ट्रपति बोरिस येलितसन ने सैन्य बल का प्रयोग किया तब एक नया संविधान लागू हुआ जिससे राष्ट्रपति का अधिकार बहुत सशक्त हो गया।

सोवियत संघ के विघटन के बाद के काल में रूस में सिथति काफी चुनौतिपूर्ण रही। 70 वर्ष से अधिक का साम्यवादी अनुभव और पूर्व का शाही जार का शासन शीतयुद्ध के दौर की महाशकित सैन्य महाशकित और सबसे बढ़कर तकनीकी रूप से सर्वोच्च रूस एक लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना नहीं कर सका। एक हजार साल के इतिहास में रूस कई बार ध्वस्त हुआ लेकिन हर संकट के बाद एक मजबूत शक्ति के रूप में उभरा। इसके भूत एवं भविष्य की महानता के पीछे मुख्य कारण इसकी वृहत भौगोलिक संरचना एवं अपार प्राकृतिक संपदा का होना है।

1991 का रूसी संघ भौगोलिक क्षेत्राफल के दृष्टिकोण से अभी भी विश्व का सबसे बड़ा देश है। यह महज इत्तेपफाक नहीं है कि 1992 से ही विश्व राजनीति का बहुध्रुवीकरण रूसी वार्ता का केन्द्र रहा है। तब से ही सामूहिक सुरक्षा एवं समन्वयकारी नीति पर आधारित बहुध्रुवीय विश्व के निर्माण का प्रयास रूस करता रहा है।

वर्तमान विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला रूस भूतपूर्व सोवियत संघ का उत्तराधिकारी है। यद्यपि रूस न तो सोवित संघ के समान सैनिक रूप से शक्तिशाली था और न ही आर्थिक रूप से। अतः रूस को अपनी आर्थिक व्यवस्था को ठीक करके अपना विकास करना था। इसके लिए रूस ने अपने सैनिक खर्चो में कमी करना शूरू किया। परन्तु इसका एक परिणाम यह निकला कि रूस में बेरोजगारी बढ़ने लगी तथा रूस की आर्थिक व्यवस्था संकट में पड़ गई जिसके परिणामस्वरूप 1992 में रूस में बेरोजगारी बढ़ने लगी तथा रूस की आर्थिक व्यवस्था संकट में पड़ गई जिसके परिणामस्वरूप 1992 में रूस में आर्थिक सुधारों को लागू करने की बात की जाने लगी। रूस में समय-समय पर कुछ ऐसी घटनाएं होती रहीं, जिससे रूस को आर्थिक एवं राजनीतिक हानि उठानी पड़ी है। उदाहरण के लिए 1994 एवं 1999 में चेचन्या विद्रोह, 2000 में परमाणु पनडुब्बी कुसर्क् की जलसमाधि, 2002 में चेचन विद्रोहियों द्वारा मास्को की रंगशाला में लोगों को बन्दी बनाना इत्यादि इसमें शामिल है। इन घटनाओं से रूस की आर्थिक व्यवस्था को काफ़ी हानि पहुंची तथा विश्व स्तर पर भी रूस के महत्व में कमी आई। इसके साथ-साथ रूस के अमेरिका के सम्बन्ध भी उतार व चढ़ाव वाले रहे। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात रूस को विश्वास था कि वह अब अपने आर्थिक विकास पर ज़ोर देगा, विश्व राजनीति में पुनः शक्तिशाली बन कर उभरेगा। कुछ कठिनाईयों के बावजूद भी राष्ट्रपति ब्लादिमीर पुतिन ने इन सभी आशाओं को आगे बढ़ाया है। कुछ विद्वानों का मानना है कि 21वी. शताब्दी में रूस पुनः एक महाशक्ति बन जायेगा। सन् 2009 में वेनेजुएला के राष्ट्रपति ह्यूगों चावेज ने कहा था कि 'रूस एक महाशक्ति है'। इसके साथ ही उन्होने वैश्विक स्तर पर अमेरिकी प्रभाव को कम हरने के लिए वैश्विक मुद्रा विनिमय में रूबल के प्रभाव को घटाने का सुझाव दिया। इज़रायल के प्रधानमंत्री बेन्जासिन नेतनयाहू भी रूस को एक महाशक्ति मानते है तथा वैश्विक स्तर पर इसके प्रभाव को स्वीकार

करते हैं। भारतीय प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने जून 2017 में रूस की यात्रा की थी। इस दौरान उन्होने रूस को एक वैश्विक शक्ति बताते हुए, वैश्विक मामलों में उसके प्रभाव को रेखांकित किया था। इसी तरह कुछ अन्य महत्वपूर्ण विद्वानों ने रूस के प्राकृतिक संसाधनों को देखते हुए यह अनुमान लगाया है कि एक बार फिर से रूस पहले जैसा शक्तिशाली होकर वैश्विक मामलों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा। रूस ब्लादिमीर पुतिन के नेतृत्व में अपने हथियारों के दम पर तथा राजनीतिक नेतृत्व के दम पर विश्व में प्रभावशाली स्थान रखता है। सीरिया में रूस का सैनिक हस्तक्षेप इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। अमेरिका की चेतावनी की परवाह न करते हुए रूस ने ब्लादिमीर पुतिन के नेतृत्व में सीरिया में सैनिक हस्तक्षेप किया। रूसी समाचार एजेन्सी ने सीरिया में सैनिक कार्यवाही को लेकर रूस को महाशक्ति कहकर सम्बोधित किया। इसी तरह न्यूयार्क पोस्ट ने इराक एवं सीरिया में रूसी हस्तक्षेप के बाद कहा, कि रूस विश्व की उभरती हुई नयी महाशक्ति है।

निष्कर्ष:

उपरोक्त वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है रूस की अर्थवयवस्था अब पहले से अधिक अच्छी है, रूस ने औद्योगिक क्षेत्र में व्यापक उन्नति की है। रूस के पास एक शक्तिशाली एवं विशाल सेना है, जिसके पास परमाणु हथियार भी है। रूस ने सीरिया में सैनिक हस्तक्षेप करके तथा यूरोप में अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव को रोककर अपनी दृढ़शक्ति का परिचय दिया है। रूस संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य है, जिसके आधार पर वह अंतर्राष्ट्रीय विषयों को प्रभावित कर सकता है। रूस के राष्ट्रपति ब्लादिमीर पुतिन ने रूस को पुन: शक्तिशाली बनाने के लिए कठिन प्रयास किया है। इसके अलावा रूस ने अमेरिका के वर्तमान राष्ट्रपति के चुनावों तक को प्रभावित किया है जो उसके तकनीकी क्षमता का विकास है। अत: यह कहा जा सकता है रूस उभरता हुआ शक्ति का एक केन्द्र है, जोकि अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को प्रभावित करने की शक्ति रखता है।

6.5 जापान

शक्ति के उभरते केन्द्र के रूप में तथा एक अन्य विकल्प जापान है। जापान विश्व की एक मानी हुई आर्थिक महाशक्ति है, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक विषयों को निरन्तर प्रभावित करती है। जापान अब अपने आप को सैनिक शक्ति के रूप में भी उभर रहा है। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जापान एक महाशक्ति के रूप में उभरा और 1945 तक उसमें अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक बड़ी शक्ति के रूप में अपना दर्जा कायम रखा। 1931 में उसने मंचूरिया को अपने अधीन ले लिया और वहां पर अपनी सरकार की स्थापना की। 7 दिसम्बर, 1941 को अमेरिका को पर्ल हार्बर पर आक्रमण के बाद जापान युद्ध में विजयी हुआ और विश्व स्तर पर इसकी शक्ति फैल गई। 1945 में अमेरिका द्वारा जापान के दो नगरों हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिराने के पश्चात इसकी शक्ति नष्ट हो गई और इसके द्वारा विजित क्षेत्रों को इसे सोवियत संघ, अमेरिका और चीन को वापिस करना पड़ा। युद्ध के पश्चात जापान की अर्थव्यवस्था चौपट हो गई। 1950 के पश्चात यह अपने आर्थिक पुनर्निमाण के लिए प्रयासरत रहा और 1970-80 के दशक में अमेरिका के बाहर विश्व की दूसरी बड़ी आर्थिक महाशक्ति बन गई और तकनीकी क्षेत्र में इसने व्यापक उन्नति की।

1990 के पश्चात इसने अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों में अपनी भागदीदरी बढ़ानी शुरू कर दी और अपना सैन्य योगदान शुरू कर दिया। जापान का उतर कोरिया के साथ व्यापक मतभेद है परन्तु वर्तमान समय में इसका अमेरिका, भारत और इजरायल देशों के साथ अच्छे सम्बन्ध है। बार-बार की भौगोलिक बाधाओं के बावजूद जापान अपने आपको पुन: खड़ा करता है। अपने विकास के लिए इसने एक अधिक क्रियाशील विदेश नीति को अपनाया है। मध्यपूर्व में इसने अपने सम्बन्धों का विस्तार किया है। यह विश्व के देशों को सहायता प्रदान

करने वाला एक महत्वपूर्ण राष्ट्र है तथा हाल ही के वर्षो में इसे मैक्सिकों, सिंगापुर, फिलीपीन्स, मलेशिया इत्यादि राष्ट्रों के साथ इसने अनेक समझौते किए हैं। जापान के प्रधानमंत्री ने अमेरिका की यात्रा करके अपने विकास हेतु सम्बन्धों का एक नया अध्याय लिखा है।

6.6 निष्कर्ष

उपरोक्त विवरण के आधार पर 1990 के पश्चात उत्पन्न विश्व व्यवस्था में एकल ध्रुवीय व्यवस्था को जन्म दिया और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर अपना लगभग एकाधिकार स्थापित किया। परन्तु 21वी0 सदी में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को सैन्य शक्ति की अपेक्षा आर्थिक सम्बन्धों ने व्यापक तौर पर प्रभावित किया और यूरोपियन यूनियन, चीन, रूस तथा जापान ने सैन्य क्षेत्र के साथ-साथ आर्थिक, तकनीकी, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में व्यापक विकास किया और अमेरिका के वर्चस्व को चुनौती प्रस्तुत की। आज ये राष्ट्र अमेरिका के एकल प्रभुत्व को चुनौती प्रस्तुत कर रहा है।

स्वयं अभ्यास प्रश्न

1. शीत युद्ध कब समाप्त हुआ।
2. WTO की स्थापना कब हुई।
3. युरोपियन यूनियन में कितने सदस्य देश हैं।
4. सोवियत संघ का विघटन कब हुआ।

6.7 शब्दावली

शीतयुद्धोत्तर काल – अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में 1945 से 1990 तक के काल को शीतयुद्ध के रूप में जाना जाता है। 1990 में शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् उत्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को शीतयुद्धोतर काल के रूप में जाना जाता है।

युरोपिय संघ – युरोपिय संघ युरोप के 27 देशों का एक राजनैतिक एवं आर्थिक संगठन है जिनमें आपस में प्रशासकीय सांझेदारी होती है। इसका उदय 1957 में रोम की सन्धि द्वारा युरोपिय आर्थिक परिषद् के माध्यम से हुआ था। यह सदस्य राष्ट्रों को एकल बाजार के रूप में मान्यता देता है और इसके कानून सभी सदस्य राष्ट्रों पर लागू होते हैं।

युरो मुद्रा – 1999 में युरोपिय संघ ने अपनी सांझी मुद्रा की शुरूआत कि जिसे 19 देशों ने अपनाया। इस क्षेत्र का युरो क्षेत्र के रूप में जाना जाता है। यह दूसरी सबसे बड़ी मुद्रा है।

उभरते शान्ति केन्द्र – उभरत शान्ति केन्द्रों से अभिप्राय: 1990 में शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् उभरते राष्ट्रों से है जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया और अमेरिकी वर्चस्व को चुनौती दी। इन राष्ट्रों में चीन, रूस, जापान तथा यूरोपिय संघ प्रमुख हैं।

6.8 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1990   2. 1995

3. 27   4. 1990

6.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- तपन विसवाल, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध, हैदराबाद** (ओरियंट ब्लैक स्वान, 2016).
- राजीव सीकरी, **भारत की विदेश नीतिः चुनौती और रणनीति,** (नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, 2017).
- बी. सिंह गहलौत, **भारतीय विदेश नीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- बी. सी. नरूला, **अतंर्राष्ट्रीय राजनीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- जे.एन. दीक्षित, **भारत की विदेश नीति और उनके पड़ोसी,** (नई दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, 2010).
- बी. एल. फड़िया, **कुलदीप फड़िया,** (अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2019).
- मुन्द्रिका प्रसाद, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2013).

6.7 परीक्षा हेतु प्रश्न

1. विश्व शक्ति के उभरते केन्द्र के रूप में यूरोपियन यूनियन की भूमिका का वर्णन करो।
2. चीन के विश्व शक्ति बनने पर विस्तृत नोट लिखो।
3. 1990 के बाद रूस के महाशक्ति के रूप में उदय का वर्णन करो।
4. जापान के उभरते शक्ति के केन्द्र के रूप में वर्णन करो।
5. ब्रिटेन के यूरोपियन यूनियन से बाहर जाने पर इसके प्रभुत्व पर क्या प्रभाव पड़ा। वर्णन करो।
6. ब्रेक्सिट क्या है?
7. यूरोपियन संसद पर नोट लिखो।
8. यूरोपियन मुद्रा क्या है?

*****

इकाई–4

अध्याय–7

भारतीय विदेश नीति

संरचना

7.0 भूमिका

7.1 अधिगम उद्देश्य

7.2 अर्थ एव परिभाषा

7.3 विषय–वस्तु

7.4 तत्त्व

7.5 निष्कर्ष

7.6 शब्दावली

7.7 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.9 इकाई अंत प्रश्न

7.0 भूमिकाः

न तो कोई राष्ट्र पूर्णतया आत्म–निर्भर है तथा न ही हो सकता है क्योंकि जो उद्देश्य वह प्राप्त करना चाहता है वे हमेशा उसके साधनों से अधिक भारी होते हैं। अधिक से अधिक आत्मनिर्भर होना ही प्रत्येक राष्ट्र का व्यवहरिक उद्देश्य होता है। राष्ट्रीय हितों की विभिन्न आवश्यक्ताओं को पूरा करने की इच्छा तथा सभी राष्ट्रीय हितों को अपने आप प्राप्त न कर पाने की असमर्थता से एक ऐसे वातावरण का जन्म होता है, जिसे राष्ट्रों की अन्तर्निभता कहा जाता है। अन्तर्निभर्ता अर्न्तराष्ट्रीय समबन्धों का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है और इसकी कारण प्रत्येक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों में अपने व्यवहार को अर्थ तथा दिशा देने के लिए प्रत्येक राष्ट्र सिद्धान्तों तथा निर्णयों को एक समूह–तर्क मार्ग, अर्थात् विदेश नीति को अपनाता है। परस्पर निर्भरता के अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में प्रत्येक राष्ट्र अपनी विदेश नीति, जिसे वह स्वयं बनाता और अपनाता है, के द्वारा ही अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों और हितों को प्राप्त करने के प्रयत्न करता है जो कि अन्य राज्यों से सम्बन्धित होते है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों के क्षेत्र में प्रत्येक राष्ट्र का व्यवहार सदैव उसकी विदेश नीति द्वारा ही निर्धारित होता है। विदेश नीति ही उन लक्ष्यों और राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने वाले साधनों का भी पता देती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बधों में राज्यों की आपसी अन्तर्क्रियायें उनकी विदेश नीतियों के मध्य अन्तर्क्रियायें ही होती हैं। इसी कारण विभिन्न राष्ट्रों की विदेश नीतियों के विश्लेषण द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रों के व्यवहार का वास्तविक रूप से विश्लेषण किया जा सकता है।

7.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् छात्र मुख्य रूप से;

1. विदेश नीति ओर उसके विभिन्न पहलुओं के बारे में जान सकेगें।
2. विदेश नीति के विभिन्न तत्वों के बारे में जान सकेगे।

7.2 विदेश नीतिः अर्थ एवं परिभाषा

विदेश नीति से अभिप्राय उन सिद्धान्तों के समूह से है जो एक राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्धों के दौरान अपने निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए अपनाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में विदेश नीति राष्ट्रीय शक्ति की सहायता से राष्ट्रीय हितों के उद्देश्य को परिभाषित और निर्धारित करती है।

जार्ज मॉडैलस्की विदेश-नीति की अवधारणा देने वाले पहले लेखकों में से एक हैं। उसने लिखा है कि ''विदेश नीति देशों द्वारा विकसित, दूसरे राष्ट्रों के व्यवहार को बदलने वाले कार्यो की व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में अपने कार्यों की समायोजना है। उनके अनुसार विदश नीति में राष्ट्रो के वह सभी कार्य शामिल होते है। जिनके द्वारा वह दूसरे देशों के व्यवहार में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करता है। ताकि अर्न्तराष्ट्रीय वातावरण में अपने व्यवहार को संमायोजित करता है।'

नारमन हिल के अनुसार विदेश नीति से अभ्रिपाय, 'एक राष्ट्र का अपने प्रयत्नों द्वारा दूसरे राष्ट्रों की तुलना में अपने हितों को बढ़ना' है।

इस तरह हम कह सकते है। कि विदेश नीति सिद्धान्तों तथा साधनों का एक समूह है जो राष्ट्र राष्ट्रीय हित को परिभाषित करने, अपने उद्देश्यों का औचित्य सिद्ध करने तथाा उन्हें प्राप्त करने के लिए अपनाते है। डॉ. महेन्द्र कुमार लिखते हैं: 'विदेश नीति कार्यो की सोची-समझी क्रिया-दिशा है। जिससे राष्ट्रीय हित की विचारधारा के अनुसार परिभाषित विदेशी सम्बन्धों में उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है।'

होलस्टी के अनेुसार 'विदेश नीति का विधार्थी बाहरी वातावरण के प्रति राज्य की क्रियाओं का तथा आन्तरिक परिस्थितियों का, जिनमें उन क्रियाओं का निर्माण होता है, विश्लेषण करता है। साधारणतय, 'विदेश नीति राष्ट्रीय उद्देश्यों हितो तथा इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के साधनों, दोनों प्रकार का अध्ययन शमिल होता है क्योंकि राष्ट्रीय उद्देश्य हमेशा नीति/विचारधारा के सिद्धान्तों की सहायता से ही अभिव्यक्त किए जाते है, इसलिए विदेश नीति के सिद्धान्तों का तथा इनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राज्य के कार्यो का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।'

7.3 विदेश नीति का विषय-वस्तु

- ❖ किसी राष्ट्र द्वारा अपनाए तथा पालन किए जा रहे सिद्धान्तों का समूह।
- ❖ राष्ट्रीय हित के उद्देश्य तथा लक्ष्य जिन्हें प्राप्त करना होता है।
- ❖ इस उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए साधनों का आवश्यक स्वरूप।
- ❖ दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के निर्देश।
- ❖ राष्ट्र प्राप्तियों तथा असफलताओं के अनुमान।
- ❖ स्थिति के अनुसार सम्बन्धों को बनाए रखना या उन्हें बदलना।
- ❖ बाहरी या घरेलू वातावरण जिसके प्रभावधीन राष्ट्र की विदेश नीति का निर्माण होता है को परिभाषित किया जाता है तथा उसे लागू किया जाता है।

7.4 विदेश नीति के तत्त्वों का वर्गीकरणः

जेम्ज़् एन. रोजेनो के अनुसार 'जब कोई राष्ट्र अपनी सीमाओं से पूरे विश्व के प्रति अपने कार्यो तथा इसकी स्थिति की व्याख्या करने लगे तो वस्तुतः प्रत्येक पहलू इसकी परम्पराएं, संस्थाएं, क्षमताए सभी संगत हो जाती है।' यह निश्चय ही एक सत्य कथन है। सुविधा के लिए के. डब्ल्यू थॉम्सन तथा राय सी. मैक्रीडस

के अनुसार 'इन तत्त्वों को संकेन्द्रित घेरों में रख कर अध्ययन किया जा सकता है। प्रत्येक घेरे में परस्पर सम्बन्धित तथा निर्भर कुछ अधिक महत्त्वपूण, कुछ कम महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को रखा जा सकता है। 'विदेश नीति के तत्वों का वर्गीकरण एवं वर्णन इस प्रकार से है।

यह निश्चय ही काफी व्यवस्थित वर्गीकरण है परन्तु यह स्थितिपरक तत्त्वों को अपर्याप्त महत्त्व देता है। कुछ विचारक विदेश नीति के निर्धारकों को दो भागों में बांटना चाहते है:

- ❖ आन्तरिक
- ❖ बाहरी

पहले भाग में अर्थात् आंतरिक तत्त्वों में वे राज्य के भू-राजनीतिक आर्थिक तथा विचारात्मक तत्त्वों, विशिष्ट वर्ग तथा हित समूह को शामिल करते है। और दूसरे भाग में बाहरी, द्विपक्षीय, क्षेत्रीय तथा विश्व वातावरण को शामिल करते है। यह भी एक वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है क्योंकि विशेष रूप में आन्तरिक और बाहरी वातावरण में आपासी सम्पर्कों का विकास होता रहता है। हम आन्तरिक और बाहरी वातावरण और विदेश नीति के तत्त्वों के बीच कठोर अन्तर नहीं कर सकते। इसलिए हम इनका अलग-अलग वर्गीकरण करे की अपेक्षा विदेश नीति के निर्धारकों तत्वों काअध्ययन करेंगे।

आकार:

राष्ट्र का आकार विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आकार, उस मनोवैज्ञानिक तथा परिचालक वातावरण को प्रभावित करता है जिसमें नीति-निर्माताओं तथा लोगों ने प्रतिक्रिया करनी होती है। आकार में मानवीय तथा गैर-मानवीय दोनों तरह के तत्त्वशामिल होते है। वे राष्ट्र जिनके पास बड़ी संख्या में मानवीय तथा गैर-मानवीय साधन है, हमेशा बड़ी शक्तियां बनने के लिए उनके पास अवसर होता है।परन्तु सिर्फ आकार ही विदेश नीति का अकेला निर्धारक नहीं है। राष्ट्र के साधन भी हमेशा आकार पर ही निर्भर नहीं करते। मध्य पूर्वी देश अपने छोटे आकार के बावजूद, अपने तेल के सबसे बड़े भण्डारों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावशाली भूमिका निभा रहे है। 1945 से पहले ब्रिटेन भी छोटे आकार के बावजूद एक महाशक्ति था। बड़े आकार के कारण रक्षा, सुरक्षा तथा संचार के साधनों को बनाए रखने की समस्याएं पैदा हो जाती है।

1. भूगोल:

किसी राष्ट्र का भूगोल विदेश नीति का सापेक्षतया सबसे अधिक स्थायी तत्त्व होता है। भूमि की भू-आकृति इसका उपजाऊपन, मौसम तथा स्थिति तत्त्व मुख्य तौर पर किसी राष्ट्र की विदेश नीति को प्रभावित करते हैं। ये तत्त्व राष्ट्र के लोगों की आवश्यकताओं तथा इन आवश्यक्ताओं की पूर्ति की क्षमताओं, दोनों का निर्धारण करते है। उच्च उपयुक्त भौगोलिक स्थिति काफी सहायक तथा उत्साहवर्द्धक होती है। इंग्लैण्ड के एक प्रमुख नौ-सेना शक्ति के रूप में विकास में इंग्लिश चैनलने जो भूमिका निभाई और उसके परविणाम स्वरूप इंग्लैंड साम्राज्यवादी शक्ति बना। अमेरिका की अलगाव की विदेश नीति पर अटलांटिक सागर का प्रभाव भी एक उदाहरण है। हिन्दमासागर की सबसे बड़ी तटवर्ती शक्ति के रूप में भारत की भौगोलिक स्थिति उसकी विदेशी नीति पर काफी प्रभाव डालती है। कनाडा की सापेक्षतया असहायक भागोलिक स्थिति कनाडा के विदेशी नीति के निर्धारण का एक तत्त्व है। एक विस्तृत भू-क्षेत्र वाले देश के ऊपर कोई भी राष्ट्र सैनिक विजय आसानी से नहीं कर सकता है। पाकिस्तान की भौगोलिक स्थिति ने भारत, चीन तथा रूस के साथ इसके सम्बन्धों को प्रभावित किया है।

2. आर्थिक विकासः

आर्थिक विकास किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति का मुख्य कारक है। अमेरिका की विदेश नीति अपने उद्देश्य की प्राप्त करने में, विशेषतया विश्व के आर्थिक तौर पर पिछड़े हुए देशों के सम्बन्ध में, अक्सर सफल रही है। अमेरिका आर्थिक रूप से बहुत अधिक विकसित देश है। हमारे समय की महान् शक्तियां औधोगिक तथा आर्थिक रूप से बहुत अधिक विकसित केन्द्र है। ये राज्य अपनी-अपनी विदेश नीति के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए विदेशी सहायता को साधन के रूप में प्रयोग करते है। महाशक्तियों की नीतियां तथा सार्वभौम परिप्रेक्षय भी विशाल आर्थिक तथा औधोगिक साधनों द्वारा संचालित होते है आज अन्तराष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक तथा औधोगिक रूप से अधिक विकसित राष्ट्र, उदाहरण के लिए जी-7420 यूरोपियन संघ समूह के देश, पिछड़े हुए तथा विकासशील राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक बलशाली भूमिका निभा रहे है। पिछड़े हुए तथा विकासशील राष्ट्रों की नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से वचनबद्धता विदेशी सम्बन्धों में आर्थिक तत्त्व की भूमिका का एक और उदाहरण है। सोवियत संघ के विघटन के फलस्वरूप अस्तित्वमें आए राज्य अपनी कमज़ोर आर्थिक स्थिति के कारण अपने आपको विकसित देशों पर निर्भर पाते है। यह आर्थिक निर्भरता उनकी विदेश नीतियों की क्रियाशीलता को सीमित करती है। आर्थिक विकास का स्तर ही उन सम्बन्धों के क्षेत्र का निर्धारण करता हे। जो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ बनाना चाहता है। युद्धोस्तर काल में जापन की विदेश नीति प्रत्यक्ष तथा मूल रूप से इसके आर्थिक विकास से सम्बन्धित रही है। एक राष्ट्र की सैनिक तैयारी तथा सैनिक क्षमता भी प्रत्यक्ष रूप से उस राष्ट्र के आर्थिक स्तर तथा औधोगीकरण से सम्बन्धित होती है। केवल औधोगिक तथा आर्थिक रूप से विकसित देश ही बड़ी तथा स्थायी सैनिक शक्ति बन सकते है। इस तरह आर्थिक विकास तथा उद्योगीकरण से सम्बन्धित होती है। केवल औधौगिक तथा आर्थिक रूप से विकसित देश की बड़ी तथा स्थायी सैनिक शक्ति बन सकते हैं। परन्तु यहां हम फिर यही कहेंगे कि ये सारे तत्त्व प्राकृतिक साधनों, मानव-शक्ति, यहां तक की राष्ट्र की विचारधारा की वचनबद्धता के गहरे रूप में सम्बन्धित है। भारी औधोगिक तथा आर्थिक कमज़ोर स्थिति के बावजूद पाकिस्तान की विदेश नीति बड़ी सक्रिय नीति रही है। 'इस्लाम' इसके आर्थिक तथा औधागिक पिछड़पन पर विजय पाने से इसकी सहायता कर रहा है। आर्थिकतत्त्वों ने अब रूस तथा दूसरे देशों को जो पहले भूतपूर्व सोवियत संघ के भाग थे, समकालीन समय में अपनी विदेश नीतियों में परिवर्तन करने के लिए बाध्य कर दिया है। लेकिन अपनी शक्तिशाली अर्थव्यवस्था के होते हुए भी जापान, चीन की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम सक्रिय भूमिका निभा रहा है। क्योंकि उसके पास सैनिक शक्ति कम है। अतः आर्थिक विकास विदेश नीति का केवल एक तत्त्व ही है, जो अपने आप में नीति निर्धारक है। जापान, जर्मनी, इजराईल, फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका, चीन इत्यादि आर्थिक तौर पर सुदृढ़ होने के कारण आज विश्व पटल पर प्रभाव डाल रहे है।

3. संस्कृति तथा इतिहासः

राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्परा तथा इतिहास भी विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण तथाा बहुमूल्य तत्त्व है। वे मानदंड तथा परम्पराएं जो इसके लोगों के सम्बन्धों की विशेषताएं होती है, बहुत अधिक प्रभावशाली तत्व हैं। एक राष्ट्रकी विदेशी नीति का निर्माण करने वाले नेता राष्टीय हितों को बनाने तथा इनकी व्याख्या करने की प्रक्रिया के दौरान हमेशा अपने सांस्कृतिक सम्बन्धों, ऐतिहासिक परम्पराओं तथा अनुभवों द्वारा निर्देशित होते है। लोगों की दृढ़ सांस्कृतिक एकता उनके लिए शक्ति का साधन होती है।यह अन्तर्राष्ट्रीय सौदेबाजी के दौरान राष्ट्रीय हितों के उद्येश्यों को प्राप्त करने की योग्यता को मौलिक रूप में प्रभावित करती है। ऐतिहासिक अनुभव तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों के स्वरूप तथा क्षेत्र के विश्लेषण तथा अनुमान लगाने में सहायक होते है। राज़ोनो के अनुसार विदेशों मामलों की प्रभावकारी शक्ति बहुत से तत्वों

पर निर्भर करती है। परन्तु उन्मे से एक है। उन लोगों का समर्थन जिनके लिए वे बाहरी कार्यवाहियां करते है तथा इस समर्थन जिनके लिए वे बाहरी कार्यवाहियां करते है तथा इस समर्थन की सीमा समाज में विद्यमान मूल मूल्यों की मात्रा द्वारा महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित होती है। ऐतिहासिक अनुभव तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध भी दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों के स्वरूप तथा क्षेत्र के विश्लेषण तथा अनुमान लगाने में सहायक होते है। 'विदेशी मामलों की प्रभावकारी शक्ति, बहुत से तत्त्वों पर निर्भर करती है। परन्तु उनमें से एक है: उन लोगों का समर्थन जिनके लिए वे बाहरी कार्यवाहियां करते है तथा इस समर्थन की सीमा समाज में विद्यमान मूल-मूल्यों की मात्रा द्वारा महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित हाती है।'सम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की नीतियों के कटु अनुभव, नए उदय हुए प्रभुस्त्ता-सम्पन्न राष्ट्रों की विदेश नीतियों के सम्राज्यवाद-विरोधी तथा उपनिवेशवाद-विरोधी नीतियों के निर्धारक तत्त्व बने है। इतिहास राष्ट्रों के मध्य सम्बन्धों, विशेषतया पड़ौसी राज्यों के साथ सम्बन्धों को निर्धारित करने वाला निर्धारक तत्त्व है। भारत तथा पाकिस्तान के मध्य विदेश नीतियों से सम्बन्धित प्रतिक्रियाएं अधिकतर अतीत के इतिहास पर ही आधारित है। 1962 के इतिहास की छाया आज भी भारत-चीन सम्ब्न्धों को प्रभावित करती है। चीन की संस्कृति, इतिहास तथा मध्य-साम्राज्य की धारणा उनकी विदेश नीति के मुख्य निवेश रहे हैं।

4. शक्ति ढ़ाचा:

जो सम्बन्ध राष्ट्र आपस में बनाते है, उनके पीछे उनके राष्ट्रीय हित होते है। वास्तव में इन सम्बन्धों में शक्ति के लिए संघर्ष शामिल होता है। इसका शुद्ध परिणाम यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक ऐसा शक्ति-ढ़ाचा बन जाता है जिसमें अधिक शक्तिशाली राष्ट्र-महाशक्तियां तथा उच्च शक्तियां-अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राष्ट्रों के मुकाबले में अधिक सशक्त तथा मुख्य भूमिका निभाते है। प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-ढ़ाचें द्वारा प्रभावति हाती है। शक्तिशाली यूरोपियन राज्य, जो पहले अधिक शक्तिशाली थे, अब कमज़ोर हो गए है क्योंकि उन्हें थोड़े से अन्तराल में दो विश्व युद्ध लड़ने पड़े, उनके द्वारा उत्पन्न किये गये शक्ति-शून्य ने अमेरिका को अपने अलगाववाद से बाहर निकाला तथा उसे 1945 के बाद के समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नई भूमिका प्राप्त हुई। अमेरिका की विदेश नीति परिवर्तन तथा यूरोपीय राष्ट्रों को प्रभावित करने के प्रयत्नों के कारण पूर्वी यूरोपियन राष्ट्रों के साथ नज़दीकी सम्बन्ध स्थापित करने की सोवियत संघ की नीति व्यवहार में आई। अमेरिका तथा सोवियत संघ के शीत युद्ध के समय में महाशक्तियां बनने के कारण भारत जैसे देशों के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वे ऐसी नीति अपनाएं जिससे वे शीत युद्ध से दूर रहते हुए इन दोनों राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सहयोग रखें ताकि उन्हें अपने लोगों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए उनसे आवश्यक सहायता प्राप्त हो सके। इसी कारण भारत ने गुटनिरपेक्षता की नीति का समर्थन किया जो आज भी भारतीय विदेश नीति का अधार है। दूसरे महायुद्ध के बाद जो द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था बनी तथा जो बाद में बहुध्रुवीय तथा बहुकेन्द्रीय व्यवस्था में बदली ने इन सभी राष्ट्रों की विदेश नीति-निर्णयों को बहुत हद तक प्रभावित किया। सोवियत संघ के विघटन के बाद विश्व संरचना में गम्भीर परिवर्तन उत्पन्न हुए जिसने लगभग सभी देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित किया है। अब स्विट्ज़रलैड ने भी विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया है।

5. समझौते तथा अन्तर्राष्ट्रीय संन्धियां:

समझौता एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा कुछ राष्ट्र अपनी शक्तियों को इकट्ठा कर लेते है या स्थिति-विशेष में अपनी शक्तियों को इकट्ठा करना मान लेते है। इस तरह समझौते विदेश नीति का एक साधन बन जाते हैं। युद्धोत्तर काल में समझौतों की जो व्यवस्था बनी उसने सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियों

पर काफी प्रभाव डाला। भूतपूर्व सोवियत संघ तथा अमेरिका दोनों ने अपनी-अपनी स्थिति को मज़बूत बनाने के लिए समझौतों को साधन माना। उनकी तथा उनके साथियों की विदेश नीतियों का उधेश्य समझौतो द्वारा नए साथी बनाना तथा समझौतों की सांझेदारी को बनाए रखना तथा उसे मज़बूत बनाना था। परन्तु बहुत से दूसरे राष्ट्र, जिन्हें गुट-निरपेक्ष राष्ट्र कहा जाता है, समझौतों को तनाव तथा अविश्वास को कारण माना तथा उनकी विदेश-नतियां भी सैनिक-समझौतो के विरोध सिद्धान्त द्वारा ही संचालित हुईं।

6. तकनीक:

वैज्ञानिक ज्ञान को लाभदायक उद्येश्य के लिए प्रयोग करना तकनीक कहलाता है। तकनीकी विकास का स्तर तथा वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप विदेश नीति का स्वरूप विदेश नीति के महत्वपूर्ण तत्व है। विकसित देशों की विदेश नीतियों की शक्ति का मुख्य तत्व उनकी विकसित तकनीक है। पिछड़े हुए तथा विकासशील राष्ट्रों को तकनीक न देना, विकसित राष्ट्रों की विदेश नीतियों को प्रभावित करने वाला या यूं कहिए कि शक्ति देने वाला तत्व है।

प्रत्येक राष्ट्र के औद्योगिक उत्पादन का स्तर और स्वरूप, तथा सैनिक तैयारी तकनीक पर ही निर्भर करती है तथा यह तत्व विदेश नीति के महत्वपूर्ण तत्व बन जाते है। तकनीकी विकास, किसी भी समाज की सैनिक तथा आर्थिक क्षमताओं को बदल सकता है और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में इसकी भूमिका तथा स्तर को भी बदल सकता है। चीन तथा जापान की उन्नति इस बात का उदाहरण है कि तकनीकी विकास ने अन्तराष्ट्रीय स्तर पर उनकी भूमिकाओं को कितना बदल दिया है।

परन्तु तकनीक विदेश नीति का कम स्थायी तत्व है क्योंकि प्रत्येक समाज में तकनीकी परिवर्तन सदैव तथा निरन्तर होते रहते है।इसके अतिरिक्त तकनीक केवल वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास के साथ जुड़कर ही विदेशी नीति का तत्व बनती है। परमाणु तकनीक के विकास के कारण ही भारत आज विश्व पटल पर महाशक्ति के रूप में उभरा है।

7. सामाजिक ढांचा:

समाज का स्वरूप तथा ढांचा, जिसके लिए विदेश नीति बनती है, भी एक महत्वपूर्ण निवेश है। गुटों का स्वरूप उनमें विरोध अथवा मैत्री की अवस्था, जिनसे उनका आपसी सम्बन्ध निश्चित होता है, सामाजिक ढांचे द्वारा ही निर्धारित होते है। जिस समाज में गहरे आन्तरिक विरोध होंगे तथा फूट होगी उसकी विदेश नीति कमज़ोर होगी। जिस समाज में संगठित, प्रबुद्व तथा अनुशासित जनसंख्या के गुटों में काफी सम्बन्ध होगा। वह विदेशी नीति के लिए शक्ति का स्त्रोत बनता है। आधुनिक समय में नीति निर्माण प्रक्रिया के लोकतन्त्रीकरण के विदेश नीति में सामाजिक ढांचे के महत्व को और बढ़ा दिया है।

8. नेताओं का व्यक्तित्व, अनुभव तथा योग्यताएँ:

क्योंकि किसी देश की विदेश नीति मनुष्यों द्वारा निर्मित तथा लागू की जाती है, स्वभावतः इन पर इसके नेताओं के आदेशों, योग्यताओं, अनुभवों तथा व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। नेताओं के विचार, प्रवृतियां, पसन्दें, नापसन्दें, मनोवृतियां, ज्ञान, निपुणता तथा उनके विश्व के प्रति विचार, विदेश नीति के प्रभावशाली निवेश होते हैं। विभिन्न अमेरिकी राष्ट्रपतियों, तथा उनके सचिवों के मध्य विदेश नीति निर्णयों पर मतभेद उनकी मनोवृत्तियों तथा व्यकितत्वों में मतभेदों के कारण रहे है।

1996-98 के दौरान श्री इन्द्र कुमार गुजराल ने पहले विदेश मन्त्री तथा बाद में प्रधानमन्त्री के रूप में कार्य करते हुए अपनी सोच-समझनीति तथा व्यक्तितत्व से भारतीय विदेश नीति को एक नई सक्रियता तथा कुशलता प्रदान की।इसी प्रकार 1997 में पाकिस्तान में श्री नवाज़ शरीफ के प्रधानमन्त्री बनने के बाद भी

पाकिस्तान की विदेश नीति में वाजपायी तथा रक्षा मन्त्री श्री जार्ज फर्नांडिस के विचारों ने भारतीय विदेश नीति को गहरे रूप में प्रभावित किया तथा भारत परमाणु शस्त्र धारक देश बनने की दिशा में अग्रसर हाने लगा। भारत के लोकप्रिय प्रधान मन्त्री नरेन्द्र मोदी का 'मेक इन इण्डिया' क्रार्यक्रम भारत की विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण कारक है। आज उनका व्यक्तित्व विश्व पटल पर छाया है।

9. विचारधारा:

अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए किसी राष्ट्र द्वारा अपनाएं गये तर्कसंगत सिद्धान्तों का समूह तथा कार्य योजना को हम विचारधारा कहते हैं। इसकी विषय-वस्तु हमेशा सैद्धान्तिक होती है जिसका प्रयोग अपने लक्ष्यों के लिए समर्थन प्राप्त करने तथा दूसरे राष्ट्रों के लक्ष्यों की आलोचना करने के लिए जाता है।समाजवाद, आस्तित्वाद, फासीवाद, नाजीवाद, नव-उपनिवेशवाद मानवतावाद स्वतन्त्रतावाद उदारवाद, उपनिवेशवाद, मार्क्सवाद इत्यादि विचारधाराएँ प्रभावति कर रही है।

स्वयं अभ्यास प्रश्न

1. विदेश नीति के दो निर्धारक तत्व लिखों।
2. भारत ने पंचशील समझौता किसके साथ किया।
3. भारत ने पहला परमाणु परिक्षण कहां किया।
4. "Look East" सिद्धान्त किसने दिया।

7.5 निष्कर्ष:

ये सभी विदेश नीति के निवेश या तत्त्व हैं। ये साधारण भाषा में विदेश नीति के निर्धारक तत्व का जाता हैं। एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिये कि ये सभी तत्त्व आत्मनिर्भर तथा अन्तर्सम्बन्धित हैं। वे इकट्ठे या संयोजित होकर कार्य करते हैं तथा विदेश नीति निर्माण के कार्य को प्रभावित करते हैं, इनमें से कोई भी तत्त्व विदेश नीति का स्वतन्त्र निर्धारक नहीं है। वर्तमान समय में विद्यमान तथा तीव्रता से बढ़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय परस्पर निर्भरता, उदारवाद, निजीकरण तथा वैश्वीकरण की धारणाएं तथा अन्तराष्ट्रीय वातावरण में विद्यमान समस्याएं सदैव सभी देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित करने वाले तत्त्व बने है। हिन्द महासागर परिधि देशों के क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना भी निश्चित रूप से कई देशों की विदेश नीतियों को प्रभावित करती है। विश्व स्तर पर हो रही सन्धियां एवं समझौते जैसेपर्यावरण की रक्षा के लिये किये जा रहे समझौते भी प्रत्येक देश की विदेश नीति को प्रभावित कर रहे हैं। कोसोवो संकट, तमिल समस्या नेपाल का संकट जैसे उभर रहे जातीय विरोध तथा जातीय युद्ध भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों और विदेश नीतियों को प्रभावित कर रहे हैं। आज, उत्तर शीत युद्ध के समय में संयुक्त राज्य अमेरीका अपनी नीति में एक बार फिर क्षेत्रीय संगठनों जैसे नाटो की भूमिका में वृद्धि के सिद्धांत को अपना रहा है। इसकी विदेश नीति में परिवर्तन हो रहा है। अत: विदेश नीति कई तत्त्वों से प्रभावित एवं निर्धारित होती है। इसलिए विदेश नीति के स्वरूप को समझने के लिए सभी तत्त्वों का इक्ट्ठा विश्लेषण किया जाना अवाश्यक है।

7.6 शब्दावली

विदेश नीति – एक राष्ट्र द्वारा अपने राष्ट्र के इच्छित राज्यों और राष्ट्रीय हितों संर्वधन हेतु दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया विदेश नीति कहा जाता है। विदेश नीति किसी भी राष्ट्र की स्वहित नीति होती है और यह आंतरिक एवं वाह्य कारको द्वारा प्रभावित होती है।

अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध – अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध विभिन्न राष्ट्रो और संस्कृतियों के मध्य सम्बन्ध है। ये सम्बन्ध अर्न्तराष्ट्रीय राजनीति, कानून व्यपार, सुरक्षा, अर्थशास्त्र, कुटनीति और शास्त्र द्वारा प्रभावित एवं निर्देशित होते हैं।

विचारधारा – विचारधारा से अभिप्राय: राष्ट्रों के विचारों से है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पूंजीवाद, उदारवाद, लोकतंत्रवाद मार्क्सवाद व्यापक तौर पर प्रभावित किया है।

7.7 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. भूगोल, आकार, जनसंख्या
2. चीन
3. पोखरण में 1974 में
4. आई.के. गुजराल (इन्द्र कुमार गुजराल)

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- तपन बिसवाल, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध, हैदराबाद** (ओरियंट ब्लैक स्वैान, 2016).
- राजीव सीकरी, **भारत की विदेश नीतिः चुनौती और रणनीति,** (नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, 2017).
- बी. सिंह गहलौत, **भारतीय विदेश नीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- बी. सी. नरूला, **अतंर्राष्ट्रीय राजनीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- जे.एन. दीक्षित, **भारत की विदेश नीति और उनके पड़ोसी,** (नई दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, 2010).
- बी. एल. फड़िया, **कुलदीप फड़िया,** (अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2019).
- मुन्द्रिका प्रसाद, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2013).

7.9 इकाई अंत प्रश्न

1. विदेश नीति का अर्थ एवं परिभाषा स्पष्ट करों।
2. विदेश नीति के आंतरिक एवं बाहरी तत्वों का वर्णन करो।
3. विदेश नीति पर व्यापक नोट लिखो।

*****

अध्याय-8
भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व

संरचना

8.0 भूमिका
8.1 अधिगम उद्देश्य
8.2 विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व
8.3 निष्कर्ष
8.4 शब्दावली
8.5 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.7 इकाई अंत प्रश्न

8.0 भूमिका

किसी राष्ट्र की विदेश नीति उसके नीति-निर्माताओं द्वारा बनाई तथा लागू की जाती है। ऐसा करते समय वे राष्ट्र के राष्ट्रीय हितों, आन्तरिक तथा बाहरी वातावरण तथा राष्ट्रीय मूल्यों को ध्यान में रखते हैं। उनका विशलेषण करते समय उनकी अपनी धाराणाएं तथा अपने अधिमान होते है। इस सबसे विदेश नीति का निर्माण कार्य बड़ा जटिल हो जाता है। जो तत्त्व विदेश नीति को प्रभावित करते है उन्हें सामूहिक तौर पर तथा साधारणतया आम भाषा में विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व कहा जाता है।किसी अन्य राष्ट्र की विदेश नीति की भांति भारतीय विदेश नीति भी अनेक कारकों तत्त्वों तथा घटकों द्वारा निर्धारित है। यह उन कई तत्त्वों की अन्तर्क्रिया का परिणाम है जिन्होंने इसके निर्माण में विभिन्न ढंगों से तथा विभिन्न परिस्थितियों में प्रभावित किया है। भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्वों को वर्णन इस प्रकार से है।

8.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय में छात्र मुख्य रूप से -

1. भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्वों के बारे में जान सकेंगे।

8.2 विदेश नीति के निर्धारक तत्वः

भारत की विदेश नीति को भूगोल, अकार, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण विचारधारा, नेतृत्व, तकनीक इत्यादि ने व्यापाक तौर परप प्रभावित किया है। विदेश नीति के निर्धारक तत्वों का वर्णन निम्न प्रकार से है।

भूगोल अथवा भारतीय विदेश नीति के भू-राजनीतिक तत्त्व

भूगोल भरतीय नीति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। 1903 में जो भविष्यवाणी लार्ड कर्ज़न ने की थी वह लगभग सत्य सिद्ध हुई हे। उसने कहा था, 'भारत की भौगोलिक स्थिति इसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अधिक आगे ले जाएगी'। पण्डित नेहरू भी भारत की भौगोलिक स्थिति के महत्त्व के बारे में पूरी तरह सजग थें 17 मार्च, 1950 को भारतीय संसद् में अपने भाषण में उन्होने कहा था, 'हम एशिया के एक सामरिक महत्त्व के भाग में है, हिन्द महासागर के मध्य में स्थित हम भूतकाल तथा वर्तमान काल में पश्चिमी

एशिया, दक्षिण एशिया तथा सुदूर पूर्वी एशिया के साथ गहरे जुड़े हुए है। हम चाह कर भी इस वास्तविक्ता से इन्कार नहीं कर सकते।'

हिमालय पर्वत

भारत की सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ भारत के भौगोलिक तत्त्वों द्वारा संचालित होती है। हिमालय तथा हिन्द महासागर भारत की सुरक्षा के लिए निर्धारक तत्त्व हैं। पहले पहल तो हिमालय, भारत का प्राकृतिक सुरक्षा कारक था पांचवें तथा छठे दशक में इसने भारत की विदेश नीति को नई सुरक्षा की ओर अभिमुख किया। हिमालय की सुरक्षा करना, भारतीय सुरक्षा तथा रक्षा की आवश्यकताओं का निर्धारक तत्त्व बन गया तथा इसके साथ-साथ दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों का निर्धारक तत्त्व बन गया। यह भारत-चीन सम्बन्धों, भारत-नेपाल सम्बन्धों तथा भारत-भूटान सम्बंधों का निर्धारक तत्त्व है।

हिन्द्र महासागर

हिन्द महासागर का सबसे बड़ा तटीय राष्ट्र, जिसके तट की लम्बाई करीब 4500 किलोमीटर है, होने के नाते भारतीय सुरक्षा को सुदृढ़ तथा आधुनिकतम नौसेना चाहिए। हिन्द महासागर में उच्च शक्तियों की शत्रुता जो कि हिन्द महासागर उच्च शक्तियों के सैनिक अड्डों, विशेषत: डियागो गार्सिया में संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक अड्डे की विद्यमानता के कारण बढ़ गई, की समाप्ति की मांग भारतीय सुरक्षा हितों के कारण की जाती रही है। भारत डियागो गार्सिया को मारीशस को लौटाने का सर्मथन करता है। भारत के लम्बे समुद्र तट की स्थलाकृति हैं बड़ी-बड़ी बन्दरगाहें तथा सैनिक सुविधाओं के लिए अधिक सहायी नहीं हैं तो भी भारत अपने तटों की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली नौसेना के विकास के लिए प्रयत्न कर रहा है। अण्डेमान तथा निकोबार द्वीपों की रक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया है कि भारत नीले जल की नौसेना का संगठन करे। इसी आवश्यकता ने भारत की संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मिलकर हिन्दमहासागर में संयुक्त नौसेना अभ्यास करने के लिए प्रभावित किया है। भारतीय हिन्द महासागर-नीति भारत की भौगोलिक स्थिति से निर्देशित है। हिन्द महासागर में परिधि क्षेत्रीय सहयोग संगठन की स्थापना भी भारतीय भौगोलिक स्थिति से पूर्णयता प्रभावित है।

भारत की स्थिति

भारत की सामरिक स्थिति ऐसी है कि इससे चीन, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पश्चिमी तथा पूर्वी अफ्रीका को आसानी से पंहुचा जा सकता है। इन क्षेत्रों के देशों के साथ सम्बन्धों में विकास तथा अपनी सुरक्षा के एक भाग के रूप में इन क्षेत्रों के देशों के साथ सम्बन्धों में विकास तथा अपनी सुरक्षा के एक भाग के रूप में इन क्षेत्रों की सुरक्षा की आवश्यकताओं के प्रति जागरूकता, भारतीय विदेश नीति की विशेषता है जोभौगोलिक स्थिति से प्रभावित है। प्राय: एशियाई महाद्वीप के आरम्भ में ही दक्षिण एशिया में भारत की सामरिक स्थिति को एशियाई राजनीति में केन्द्रीय स्थिति प्रदान करता है। स्वेज़ नहर के कारण भूमध्य सागर तथा यूरोपीपय देशों के नज़दीक आ गया है। इस प्रकार की सामरिक स्थिति के कारण भारत की विदेश नीति के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरे देशों के साथ निकटतर तथा अधिकतर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सहयोग के लिए काम करे। यह सब भारतीय सुरक्षा पर गहरा प्रभाव डालता है। भारतीय स्थिति के महत्त्व के कारण भी अमरीका, रूस, फ्रांस, जर्मनी जापान तथा अन्य देश भारत के साथ सम्बंधों को विशेष महत्त्व देते है।

उत्तर में हिमालय की सबसे ऊँची पर्वत श्रृंखलाओं के कारण भारत उत्तरी पड़ोसियों के साथ सीमित व्यापार ही कर सकता है। दूसरी तरफ अरब सागर, बंगाल की खाड़ी तथा हिन्द महासागर के कारण महासागरीय व्यापार विकसित करने में सहायक है।

भारत की विदेश नीति के तत्त्व के रूप में भारत का आकर

सभी राज्यों की प्रभुसत्तात्मक समानता के इस युग में चाहे उनका भौगोलिक क्षेत्र कोई भी हो, किसी भी राष्ट्र की राष्ट्रीय–शक्ति के लिए राज्य का आकर एक महत्त्वपूर्ण भौगोलिक तत्त्व है। बड़ा आकार सुरक्षा आवश्यकतों तथा राज्य की क्षमताओं को प्रभावित करता है। प्राय: बड़े आकार वाले देशों में प्राकृतिक साधनों की अधिकता होती है। अमेरिका एक महाशक्ति है तथा यह बड़े आकार वाला देश है। भारत का भी बड़ा आकार भारत की सुरक्षा पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है तथा एक ऐसा तत्त्व है जो भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में मान्यता प्रदान करता है। इसके साथ ही भारत की स्थल, जल तथा हवाई सीमाओं की सुरक्षा की आवश्यकता ने सदैव भारतीय विदेश नीति को प्रभावित किया है।

अन्य तत्त्वों के अतिरिक्त आकार तथा भौगोलिक स्थिति के आधार पर भी आज भारत संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता का सशक्त दावेदार बना है।

भारत की विदेश नीति के तत्त्व के रूप में 'सीमा'

इसी प्रकार भारत के विदेशी सम्बन्धों में सीमा का स्वरूप महत्त्वपूर्ण भौगोलिक निर्धारक है। भारत की विदेश नीति पर सीमाओं के प्रभाव को दो भागों में विश्लेषित किया जा सकता है:

प्राकृतिक सीमाएं

भारत की दो प्राकृतिक सीमाएं: 1. हिमालय की सीमाएं। 2. हिन्द मासागरीय सीमांए।

हिमालय की सीमाएं

उत्तर में हिमालय की प्राकृतिकसीमाओं का अस्तित्व भारत की विदेश नीति पर भू–राजनीतिक प्रभावों तथा अन्य कई दूसरे देशों के साथ सम्बन्धों का स्रोत है। जे. बंधोपाध्याय के अनुसार उत्तरी सीमाओं के भू–राजनीतिक प्रभावों का निम्नलिखित रूप में साराशं प्रस्तुत किया है।

1. उत्तरी सीमाओं पर हिमालय तथा काराकोरम महान् प्राकृतिक अवरोध है। यह अवरोध वाणिज्य तथा व्यापार के रास्ते में तो प्रभावी बाधा है परन्तु आक्रमण के रास्ते में नहीं। आज के जेट तथा परवाणु मिसाइलों के युग में हिमालय की यह सीमा अब एक खुली सीमा है। भारतीय सुरक्षा आवश्यकताओं में इसकी रक्षा मुख्य तत्त्व है।
2. सीमाओ के ऊपर भारत की तरफ की उपहिमालय की ढलानों की तुलना में तिब्बत का पठार अधिक ऊंचा है। भारत की सुरक्षा–कार्यो के रास्ते में यह स्थिति बाधक है।
3. नेपाल तथा भूटान के साथ भारत के सम्बन्धों का महत्त्व हिमालय में उनकी सामरिक स्थिति के कारण है। विशेषतया 1962 के बाद भारत की विदेश नीति ने हिमालय क्षेत्र के इन राष्ट्रों के महत्त्व को पहचान लिया है तथा इसलिए अब भारत इन राज्यों के साथ निकटता तथा गहरे आर्थिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित रिने के बारे में पहले से कहल़ अधिक सजग है।

हिन्द महासागरीय सीमा

हिन्द महासागर क्षेत्र में भारत की केन्द्रीय तथा सामरिक स्थिति है। इसके राष्ट्रीय हित अनिवार्य रूप से हिन्द महासागर के साथ जुड़े हुए है। भारत के विदेशी तथा तटीय व्यापार का एक बड़ा भाग, प्राय: सारा ही व्यापार, हिन्द महासागर की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। हिन्द महासागर भारत तथा पड़ोसी एशियाई तथा विश्व के दूसरे महत्त्वपूर्ण देशों के बीच संचार का महत्त्वपूर्ण देशों के बीच संचार का महत्त्वपूर्ण साधन है। हिन्द महासागर को शांति का क्षेत्र बनाने तथा महाशक्तियों के आपसी विरोध तथा शीतयुद्ध से

मुक्त रखने का भारतीय विदेश नीति का लक्ष्य या महत्त्व इसी सोच पर ही आधारित रहा है। आज भी भारत हिन्द महासागर को तनावमुक्त क्षेत्र बनाना चाहताा है। भारत की सुरक्षा, हिन्द महासागर की सुरक्षा से जुड़ी है। हिन्द महासागर की तरफ से समुद्र पर आधारित व्यापार तथा भारत की सुरक्षा ने भारत को सशक्त, आधुनिकतम शस्त्रों से लैस तथा सुप्रशिक्षित व्यापारी बेड़ा तथा नौसेना रखने के लिए बधित किया है। भारत के अण्डेमान निकोबार तथा अन्य छोटे-छोटे द्वीप इसकी इस आवश्यकता की ओर अधिक बल देते है। अपने समुद्री तट, समुद्री व्यापार तथा अपने विभिन्न छोटे-छोटे द्वीपों की रक्षा के लिए भारत अब नीले जल की नौ-सेना का गठन कर रहा है। तथापि अपने सीमित साधनों के कारण आज तक भारत हिन्द महासागर को स्वतन्त्र रखने के लिए अपनी शक्ति से अधिक अपनी कूटनीति पर निभर्र करता रहा है।

इस प्रकार हिन्द महासागरीय सीमा विदेश नीति का एक भौगोलिक निर्धारक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की भूमिक के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

अप्राकृतिक/मानव-नीणमत सीमाएँ

हिमालय तथा हिन्द महासागर की सीमाओं के अतिरिक्त, भारत की धरती का बहुत बड़ा हिस्सा, विशेषतया पाकिस्तान तथा बंगाल देश के साथ का भाग, स्तम्भ सीमाओं का है। इन सीमाओं की रक्षा की समस्या के साथ-साथ सीमांकन की समस्या पाकिस्तान तथा बंगलादेश के साथ भारत के सम्बन्धों सामान्य रूप से कहा जाए तो, अप्राकृतिक सीमाओं की स्थिति के कारण अत्यधिक प्रभावित किए हुए है। पाकिस्तान तथा बंग्लादेश के साथ तनावपूर्ण सम्बन्धों का जारी रहना सीमा सम्बन्धी तनावों तथा सीमा उल्लंघन का कारण बना है। पंजाब तथा राजस्थान के साथ लगती भारत-पाक सीमा पर तस्करी तथा गैर-कानूनी व्यापार तथा घुसपैठ के रोकने के लिए भारत ने अब कंटीले तारों की बाड़ लगाई है। ऐसा ही प्रावधान भारत-बंगला सीमा पर भी किया जाना है। अप्राकृतिक सीमा के कारण ही भारत ने नीन बीघा कारीडोर बंगला देश को स्थायी रूप से पट्टे पर दिया है। सीमा रेखा के साथ-साथ बड़ी संख्या में सेना तैनात करनी पड़ी है। पाकिस्तान ने शस्त्रों के प्रति सीमा रेखा के साथ-साथ बड़ी संख्या में सेना तैनात करनी पड़ी है। पाकिस्तान के शस्त्रों के धड़ में समिलित होना, जिसका उदाहरण गौरी मिसाईल तथा अणु बमों का परीक्षण है, ने भारत को अपनी सेना को आधुनिक हथियारों से सुसज्जित करने में व्यस्त रखा है।

सीमावर्ती आंतकवाद जो कि पाकिस्तान की तरफ से वास्तिविक नियंत्रण रेखा के पार से भारत में आ रहा है, भारतीय विदेश नीति सम्बन्धों पर एक दबाव का बिन्दु रहा है। भारतीय विदेश नीति का एक प्रमुख लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर पर-सीमावर्ती आतंकवाद के विरूद्ध विश्व जनमत तथा कार्यवाही प्राप्त करना है। इस प्रकार भूमि सीमाएं, विशेषतया अप्राकृतिक भूमि सीमाएं भारत की विदेश नीति की महत्त्वपूर्ण भौगोलिक निर्धारक है।

सारांश में हम कह सकते है कि भूगोल भारातीय विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण या यूं कहें कि अनिवार्य तत्त्व है। भारतीय विदेश नीति के सिद्धान्तों में से दो मुख्य सिद्धान्त स्पष्ट रूप से भूगोल के महत्त्व को दर्शाते हैं। पंचशील का सिद्धान्तभू-क्षेत्रीय अखण्डता तथा प्रभुसत्ता सम्पन्नता का प्रतीक है। भारत-चीन सम्बन्धों के एक भाग के रूप में इसका प्रादुर्भाव इस तत्त्व को ही अधिक रूप से प्रतिबिम्बित करता है। दूसरे, भारत की भौगोलिक स्थिति ने गुट-निरपेक्षता को अपनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। (भू.पू.) सावियत संघ के साथ भौगोलिक निकटता के कारण तथा साम्यवादी चीन के साथ लगी लम्बी सीधी सीमा, हिन्द महासागर, एशिया, दक्षिण एशिया तथा विश्व के पूर्वी भागों के साथ इसकी सामारिकस्थिति तथा अमेरिका तथा यूरोप से प्राकृतिक रूप से दूर के कारण भी गुट-निरपेक्षता भारत की शीतयुद्ध से काल नीति का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। अन्तत भूगोल विदेश नीति का एक अपेक्षाकृत स्थायी और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है परन्तु यह अकेला ही विदेश नीति का निर्धारक नहीं। यह सहायक अथवा हानिकारक दोनों प्रकार का तत्व हो सकता है, परन्तु यह स्वतंत्र रूप में विदेश नीति का निर्धारक नही हो सकता।

आर्थिक तत्त्व

भारतीय विदेश नीति का दूसरा मुख्य निर्धारक है आर्थिक विकास। किसी देश की आर्थिक स्थिति उसकी राष्ट्रीय शक्ति मुख्य निर्धारक होती है। अमेरिका तथा भूतपूर्व सोवियत संघ ने विश्व राजनीति में दो महान् शक्तियां होने की जो स्थिति प्राप्त की, वह काफी सीमा तक उनकी सुदृढ़ आर्थिक स्थिति तथा आर्थिक विकास की उच्च दर के करण बनी थी। आर्थिक विकास में पिछड़ जाने के कारण ही सोवियत संघ की शक्ति काक ह्रास हुआ तथा वह विघटित हो गया। शक्ति की वृद्धि के उद्देश्य से निणमत विदेश नीति का आधार भली–भान्ति विकसित अर्थव्यस्था होनी चाहिए। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भारत का तेज़ी से उभर रहा आर्थिक बज़ार तथा सम्भावित आर्थिक शक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त हो रही है तथा यह तत्त्व भारत की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में भूमिका को अधिक सक्रिय कर रहा है।

आर्थिक विकास को प्राप्त करने का मुद्दा

स्वतन्त्र भारत ने अपने–आप को आर्थिक रूप से दूसरों पर निर्भर पाया। शताब्दियों का साम्राज्यवादी शासन, साम्राज्यवादी ब्रिटेन के हाथों आर्थिक शोषण तथा इसके तकनीकी तथा विज्ञान के निम्न स्तर ने इसे आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ बना दिया। निर्धरता, अभाव, अल्प–विकास, वैज्ञानिक, औधोगिक तथा तकनीकी पिछड़ापन आदि गम्भीर समस्याएं भारतीय राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने के लिए, कृषि, विज्ञान तथा तकनीक में विकास द्वारा तेज़ी से आर्थिक विकास करने की आवश्यकता रही। इस तत्त्व ने भी भारत को शीतयुद्ध से अलग रहने तथा सभी देशों के साथ आर्थिक सहयोग स्थापित करने के लिए प्रेरित किया है।

भारत की आर्थिक रूप से विकसित राष्ट्रों पर निर्भरता

भारत के लिए आर्थिक अल्पविकास बड़ा हानिकारक सिद्ध हुआ है क्योंकि शोषण तथा नव–उपनिवेशवाद का आरम्भ हुआ था। भारत की विदेश नीति ने साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा नव–उपनिवेशवाद के विरूद्ध जो आक्रामक रूख अपनाया है उसका कारण है उनके हाथों उठाए गए दु:ख तथा इसके साथ–साथ इस प्रकार की बुराइयों को स्वंतन्त्र भारत से दूर रखने की अवाश्यकता। भारत के शीत युद्ध तथा सुरक्षा संधियों से दूर रहने का विदेश नीति–निर्माताओं का निर्णय भी आर्थिक विकास की निरन्तर बनी रखने वाली समस्या पर केन्द्रित होने की इच्छा पर ही आधारित था। परन्तु इसके साथ–साथ वे दोनों महाशक्तियों तथा उनके गुटों से आवश्यक आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्राप्त करना था। द्विमुखी आर्थिक व्यवस्था भी कुछ हद तक उस समय की दोनों महा–शक्तियों द्वारा प्राप्य आर्थिक सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही प्रभावित थी। पहले–पहल तो भारत का व्यापार केवल अमेरिका, ब्रिटेन तथा गैर–साम्यवादी यूरोपीय देशों के साथ था। उसक आयातों का 34.7 प्रतिशत केवल अमेरिका से आता था, ब्रिटेन से 7.4 प्रतिशत तथा जर्मनी से 7 प्रतिशत। इसलिए भारत के लिए यह आवश्यक था कि वह इन देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे। परन्तु इसके साथ ही यूरोप, (भू.पू.) सोवियत सघ, चीन, यूरोप तथा एशिया के साम्यवादी देशो विशेषतया वियतनाम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध कायम किए जा सके। सोवियत संघ के विघटन तथा पूर्वी यूरोप के भूतपूर्व समाजवादी देशों में हुए परिवर्तनों के बाद अब भारत रूस, भूतपूर्व सोवियत संघ के गणराज्यों, केन्द्रीय एशिया के देशों तथा यूरोपीय देशों के साथ आर्थिक सहयोग तथा सम्बन्ध स्थापित करने में संलग्न है। व्यापार, अर्थव्यवस्था तथा उद्योग के क्षेत्र में दक्षिण–दक्षिण सहयोग करने का निर्णय भी, भारतीय वस्तुओं के निर्यात द्वारा आर्थिक विकास करने की इच्छा द्वारा ही प्रभावित है। तीसरे विश्व के देशों के लिए सामान्य सीमा–शुल्क अधिमान स्कीमका समर्थन करने का भारत का निर्णय भी भारत की बढ़ती आर्थिक आवश्यकताओं का ही परिणाम है। भारत गुट–निरपेक्ष आन्दोलन जैसे क्षेत्रीय संगठनों में सक्रिय सदस्य के रूप में भाग लेने का यही कारण है।

भारतीय अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक नीतियों में जो उदारीकरण, विकेन्द्रीयकरण, निजीकरण तथा लोकतन्त्रीयकरण के लिए परिवर्तन हाल में ही किए गए है वे निश्चय ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक सम्बन्धों में हुए परिवर्तनों पर आधरित है। उत्तर-शीत युद्ध, तथा उत्तर-समाजवादी खेमे के वर्तमान युग में विश्वराजनीति में आर्थिक सम्बन्धों का महत्त्व अत्यन्त बढ़ गया है तथा इनके स्वरूप में गहरे परिवर्तन हुए हैं। इनके प्रभावधीन भारतीय विदेश नीति भी परिवर्तन एवं प्रभावित हुई है। सोवियत संघ तथा समाजवादी गुट के विघटन के बाद अब भारत पश्चिमी देशों के साथ अधिक विकसित आर्थिक सम्बन्ध बढ़ाने के प्रयत्न कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सम्बन्ध तथा वित्तीय कूटनीति बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है। भारतीय विदेश नीति भी अब आर्थिक हितों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अच्छा संगठन बनाना आदि भारतीय विदेश नीति के आर्थिक निर्धारकों के आधार पर ही अपनाए गये सिद्धान्त एवं उपक्रम हैं।

भारत की विदेश नीति के निर्धारक के रूप में आर्थिक तत्त्व की भूमिका का संक्षेप में आकलन करने के बाद, विकास के निम्नलिखित तत्त्वों की भूमिका का विश्लेषण करके हम इसके पूर्ण प्रभाव का विश्लेषण कर सकते है।

जनसंख्या : भारत की विशाल जनसंखा तथा कृषि पर इसकी निर्भरता भरतीय विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक तत्त्व है। एक विशाल जनसंख्या, जिसमें उच्च दर से वृद्धि हो रही है, भारतीय विदेश नीति को कमज़ोर करने वाला तत्त्वहै। विदेशी सहायता पर निर्भरता तथा दूसरे राष्ट्र से अधिक वस्तुओं को आयात भारतीय विदेश सम्बन्धों के लिए बहुत हानिकारक है। निश्चय ही यह एक बड़ा बोझ है। गांवों में रहने वाली लगभग 75 प्रतिशत जनसख्या तथा वह भी कृषि करने वाली है। इस के बावजूद भारत को कभी-कभी अनाजों का आयात करना पड़ता हे। 1998 में भी आस्ट्रेलिया से अनाज की पूर्ति के लिए अन्न का आयात किया गया। अब भी हमें दूसरे राष्ट्रों से चीनी, खाद्य तलों का आयात कभी-कभी करना पढ़ता है। अधिक जनसंख्या धीमी गति के आर्थिक विकास का कारण है। 1992 में भी भारत ने अमेरिका से गेहूं का अयात किया। 1998 में हमारी खाद्य स्थिति तो बहुत अच्छी है परन्तु अगर जनसंख्या वृद्धि। तथा यह भारतीय अर्थव्यवस्था, तथा इसी कारण भारतीय विदेश नीति का एक तत्त्व है। 1996-98 के मध्य भारत को फिर से खाद्यों का कुछ आयात करना पड़ा 1998-99 में भी ऐसी परिस्थिति विद्यमान है क्योंकि भारत की जनसंख्या काफी तेज़ी से बढ़ रही है। तत्त्व भारतीय विदेश नीति पर बोझ बना रहता है।

प्राकृतिक साधन: उन्नत औधोगिक तथ तकनीकि विकास के आधुनिक युग में प्राकृतिक संसाधन आर्थिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। साधारणतया भारत के प्राकृतिक संसाधन भिन्न-भिन्न प्राकर के हैं तक्ति दूसरें देशों की तुलना में यहां कोयला, कच्चा लोहा अधिक मात्रा में होता है तथा कुछ औधोगिक कच्चा माल भी दूसरे देशों की तुलना में अधिक है। भारत आत्म-निर्भर तथा विकसित राष्ट्र बन सकने की अंत: शक्ति रख्ता है तथापि प्राकृतिक संसाधनो में सम्पूर्ण उपयोग के आक्षमता और धीमी गति भी हमारी कमज़ोर का करण है। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए विदेशों के तकनीकि ज्ञान पर निर्भरता की भी हमारी कमज़ोर है। अन्तर्राष्ट्रीय बाज़ार में तेल की कीमतों में वृद्धि तथा अपने तेल के संधान का अविकसित स्वरूप भरतीय विदेश नीति-निर्माताओं के लिए एक प्रतिबन्ध है। तेल के आयात की निर्भरता भारती की पश्चिम-एशियाई तथा मध्य-पूर्वी नीति का निवेश रहे हैं। फिर भी प्राकृतिक साधनों की पर्याप्तता तथा भारत द्वारा, चाहे धीमी ही सही, तकनीकी तथा औधोगिक विकास, आने वाले समय में भारतीय विदेश नीति के लिए एक सबल साधन सिद्ध होगा।

प्रौधोगिकी अथवा तकनीकी: प्रौधोगिकी का अर्थ है विज्ञान के ज्ञान लोगों की भलाई के व्यवहारिक उपयोग के लिए प्रयुक्त करना। प्रौधोगिकी के इस युग में प्रौधोगिकी विकास का स्तर किसी भी राष्ट्र की

विदेश नीति को काफी हद तक प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। स्वतन्त्रता के समय भारत एक पिछड़ा हुआ देश था जो प्रौधोगिक रूप से अविकसित तथाा औधोगिक रूप से निम्न स्तरीय था, इसे तकनीकी ज्ञान तथा आधारभूत उद्योगों की स्थापना जैसे स्टील प्लांटों की स्थापना के लिए भारी मशीनों के आयात के लिए दूसरे राष्ट्रों पर निर्भर रहना पड़ता था। परिणामस्वरूप यह निर्भरता हमारी दुर्बलता बन गई तथापि अब भारत ने तकनीकी तथा औधोगिक विकास में काफी प्रगति की है। भारत के वैज्ञानिक देश के लिए वैज्ञानिक प्रगति करने में सफल रहे हैं। आज वैज्ञानिक प्रौधोगिक तथा औधोगिक ज्ञान को भारत निर्यात कर सकता है तथा तीसरे विश्व के सामान्य रूप से अविकसित राष्ट्रों को तकनीकी ज्ञान देकर उनका सहायक बन सकता है। तथापि भारत को सभी प्रकार से विकसित राष्ट्र बनने में काफी समय लगेगा। वास्तव में अभी भी भारत तथा दूसरे विकसित देशों के बीच बड़ा प्रौधोगिक तथा औधोगिक अन्तर है। भारत अभी भी विकासशील राष्ट्र है तथा यह आज भी विकसित राष्ट्रों पर निर्भर है। विदेशी सहायता तथा ऋणों पर निर्भरता, विशेषतया अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संस्थाओं पर निर्भरता, भारत की विदेश नीति के लिए हानिकारक है। अनेकों द्वारा यह दोषरोपण किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्राप्त ऋण भारतीय आर्थिक नीतियों पर अमेरिकी दबाव का कारण है। विदेशों के साथ व्यापार में असन्तुलन भी भारतीय निवेश नीति के लिए चिन्ता का विषय है। तथापि इस अन्तर को सुदृढ़ आर्थिक कूटनीति से कम किया जा सकता है।

सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा राजनीकि मूल्य

भारत के सांस्कृतिक मूल्य

किसी राष्ट्र की नीतियों के निर्माण में सांस्कृतिक मूल्य परम्पराएं प्रभावपूर्ण हाती है क्योंकि नीति निर्माता अपने झुकावों का अवलोकन करते समय सदा इन्हीं मूल्यों द्वारा निर्देशित हाते है। भारत की विदेश नीति भी भारत के सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभाव लिए हुए है। भारत की विदेश नीति विश्व शांति, झगड़ों के निपटारे के लिए शांतिपूर्ण साधनों, एक दूसरे के अधिकरों के लिए परस्पर सम्मान, दूसरों के प्रति सहनशीलता, अहस्तक्षेप, तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व को महत्त्व देती है। वह भरतीय संस्कृति के प्रभाव के कारण ही है। पंचशील भारतीय विदेश नीति का मुख्य सिद्वांत है तथायह स्पष्ट रूप से भारतीय संस्कृति से प्रभावित है। भारतीय संस्कृति की महानता में विश्वास तथा भारतीय सभ्यता पर गर्व के कारण ही भारत स्वतन्त्र विदेश नीति अपना सका है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मुख्य भूमिका निभा पा रहा है। एन.डी. पामर के शब्दों में, 'हिन्दू सभ्यता की कुछ विशेषताओं तथा प्रथाओं का भारतीय आचार व्यवहार तथा नीतियों पर विशिष्ट प्रभाव' है। इनमें से एक है जीवन के प्रति इहलौकिक दृष्टिकोण तथा अभौतिक तत्त्वों तथा सहनशीलता, निर्लिप्तता, ध्यान तथा समझौते पर बल, जिसका सर्वश्रैष्ठ उदाहरण बुद्धमत, जो हिन्द धर्म की ही एक उपशाखा है, में मिलता हैं।

भारतीय विदेश नीति की ऐतिहासिक बपौती

इसके अतिरिक्त भारतवासियों का दीर्घ तथा भरपूर परन्तु कटु ऐतिहासिक अनुभव भरतीय विदेश नीति का अनुकूलन तत्त्व है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पंजे में भुगते शोषण तथा दुःखों के कारण भारत की विदेश नीति साम्राजयवाद, नव–उपनिवेशवाद तथा नस्लवाद को समाप्त करने के लिए संघर्ष करने के लिए पूर्ण रूप से प्रतिबद्ध है। एशियाई तथा अफ्रीकी राष्ट्रों की एकता का समर्थन भी साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरूद्ध तथा नस्लवाद के विरूद्ध संघर्ष विश्व–स्तर पर प्रभावपूर्ण ढगं से किया जा सकता है तथा इन रष्ट्रों के शिकार राष्ट्रों के साथ एकजुट होना भारत की विदेशी नीति के लिए एक मूल महत्त्व का विषय है।

भारतीय राजनीतिक परम्पराएं तथा भारत की विदेश नीति

भारत की राजनीतिक परम्परा भी भारत की विदेश नीति का प्रभावशाली तत्त्व है। ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीयों के अनुभव इसका महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। ब्रिटिश सरकार द्वारा मूल रूप से स्वीकृत भारत के अर्द्ध–स्वतन्त्रता की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति, विशेषतया 1919 के बाद, ने ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति के अन्दर ही अन्दर भारत की विदेश नीति की प्रक्रिया के उद्‌भव में सहायता प्रदान की। इस वातावरण में विदेशी मामलों में भारत को जो अनुभव प्राप्त हुआ, उसने स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति के निर्माण में काफी सहायता प्रदान की।

इसके अतिरिक्त गांधी जी, अरविन्द घोष तथा रविन्द्र नाथ टैगोर के विचारों में राजनीति तथा शक्ति का जो आध्यात्मिक स्वरूप प्रदर्शित हुआ उसी के कारण भारत अपन विदेश नीति में विश्व शांति तथा शांतिपूर्ण साधनों में विश्वास और शक्ति राजनीति शीत युद्ध तथा सैनिक सुरक्षा सन्धियों से दूर रहना अपनी विदेश नीति के आदर्श तथा सिद्धान्त बना सका। भारतीय विदेश नीति के उद्देशय के रूप में अन्तर्राष्ट्रीयवाद भारतीय राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव लिए हुए है।

घरेलू वातावरण

भारत की सामाजिक संरचनाः

किसी भी देश की विदेश नीति तथा घरेलू वातावरण में सम्बन्ध निश्चय ही गहरे होते हैं। राष्ट्रीय हित के उद्देश्यों की प्रकृति, जिन्हें कोई भी अपनी अवदेश नीति द्वारा प्राप्त करने की कोशिश करता है, सदैव आन्तरिक कारकों से भी निर्धारित होते है। और इन्हीं अर्थो में यह कहा जा सकता हे। कि किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति के लिए घरेलू तत्त्व आकार देते है। भारत की विदेश नीति भी इस समान्य नियम को अपवाद नहीं है। घरेलू तत्त्व आकार देते हैं। भारत की विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण निर्धारक है। सांस्कृतिक, एतिहासिक तथा राजनीतिक तत्त्वों को भी, भारत की विदेश नीति के घरेलू वातावरण के घेरे में शामिल किया जा सकता है। कांग्रेस विदेश नीतिके इन सिद्धान्तों, विचारों तथा प्रस्तावों के अतिरिक्त विदेश नीति के निर्माण में आज भी दूसरे राजनीतिक दलों का प्रभाव तथा भारत की लोक सेवाओं की भूमिका आन्तरिक वातावरण का ही एक भाग है। इसके साथ–साथ भारत के लोगों की आवश्यकताए भी भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व है।

कांग्रेस की नीतियां

भारत की विदेश नीति पर कांग्रेस की नीतियों का स्पष्ट प्रभाव है। भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व भी कांग्रेस अन्तर्राष्ट्रीय मामलोंा तथा समसस्याओं पर अपने विचार प्रकट करने में काफी सक्रिय थी। यह भारत की विदेश नीति के प्रस्ताव भारत की विदेश नीति के महत्त्वपूर्ण निवेश थे। कांग्रेस दल का विशाल आकार था इससे सारे देश के विभिन्न वर्गो तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को इकट्‌ठे मिलकर स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने का अवसर प्रदान किया।

सत्ताधारी दलों की नीतियां

स्वतंत्र भारत की विदेश नीति–निर्माण का उत्तरदायित्व सबसे पहले पं. जवाहर लाल नेहरू ने निभाया। उनके द्वारा परिवर्तनों का इन विशेषताए आज एक भारतीय विदेश नीति का अंग हैं। सरकारों द्वारा परिवर्तनों का इन विशेषताओं पर असर कम ही पड़ता है। क्योंकि इनका आधार भारतीय राष्ट्र हित है। 17 मई 1996 को जब भाजपा की पहली केन्द्रीय सरकार स्थापित हुई तो तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने राष्ट्र के नाम अपने प्रथम संदेश में भारतीय विदेश नीति की इन मुख्य विशेषताओं को स्वीकार किया।

लेकिन इस के साथ ही प्राथमिकताओं के समय-समय पर स्वाभाविक और आवश्यक रूप में परिवर्तन आये हैं और आयेंगे भी। फिर 1 जून 1996 को स्थापित संयुक्त मोर्चे की सरकार ने भी भारतीय विदेश नीति की विद्यमान सभी विशेषतओं को स्वीकार किया तथा पड़ोसियों के साथ मित्रता तथा सहयोग को और दृढ़ करने की प्राथमिकता स्वीकार की थी। 1997 में बनी प्रधानमन्त्री श्री इन्द्र कुमार गुज़राल की सरकार ने भारतीय विदेश नीति को एक नई सक्रियता प्रदान की थी।

हित समूह

भारत में विद्यमान हित समूह तथा राजनीतिक दल भी भारत की विदेश नीति विशेषकर गुट-निरपेक्ष रहने की नीति को आकार देने में साधन रहे हैं। कुछ मख्य हित समूह जैसे कि वामपंथी अथवा समाजवादी विचारधारा के हामी रहे हैं जब कि वाणिज्य मण्डल दक्षिण पंथी रहे हैं। भारतीय राजनीतिक दलों का मामला भी ऐसा ही रहा है। इसी कारक ने भारत को विश्व के वाम पंथी तथा दक्षिण पंथी दोनों गुटों से एक समान अन्तर बनाए रखने के लिए गुट निरपेक्षता की नीति का अनुसरण करने की प्रेरणा दी तथा इसके साथ समस्त राष्ट्रों से मित्रतापूर्ण सहयोग का विकास करने की प्रेरणा दी तथा इसके साथ समस्त राष्ट्रों से मित्रतापूर्ण सहयोग का विकास करने को भी प्रेरित किया।

राष्ट्र-निर्माण की आवश्यकतांए

स्वतन्त्र प्राप्ति के बाद भारत के सामने राष्ट्र-निर्माण तथा राज्य-निर्माण की समस्या ने भारत की विदेश नीति को अत्यन्त प्रभावित किया। देश के विभाजन तथा चौथे दशक के मध्य के बाद से अब तक के समय में भारत के सामाजिक जीवन को ग्रसने वाले साम्प्रदायकि दंगों, शरणार्थी समस्या तथा सामाजिक, आर्थिक पुनर्निमाण की आवशयकता ने नीति-निर्माण के कार्य को पूर्ण एकाग्रता दने की आवश्यकता थी। स्वतंत्रता प्राप्ती के बाद देसी राजाओं के राज्यों को इकटठा करने की अवाश्यकता, लोकतान्त्रित ढांचे का लागू करना, निर्विघ्न रूप से कार्य करने वाले प्रशासनिक उपकरणों को निश्चित बनाना तथा उद्योगीकरण तथा वैज्ञानिक एवम् प्रौधोगिक विकास को आरम्भ करने की प्रक्रिया, ये सब मिलकार भारतीय नेताओं के मानस पटल पर एक बोझ के रूप में छाए रहे है।

आन्तरिक सामाजिक तत्त्व

भारतीय समाज में विद्यमान मुसलमानों की प्रभावशाली संख्या, सत्तारूढ़ दल की नीतियां तथा सामाजिक बनावट, विरोधी दल की प्रकृति, विरोधी दलों के रूप में कार्य करने वाले राजनीतिक दलों की प्रकृति, भारत में विद्यमान तथा सक्रिय रूप से कार्य कर रही साम्यवादी राजनीतिक दलों की नीतियां, भारतीय प्रैस की भूमिका, भारतीय जनमत, भारत में विद्वमान क्षेत्रीयवादा की प्रवृति तथा वघिटनकारी तत्त्वों का अस्तित्व, 1996 तथा 1996 के मध्य लगातार बनी रही राजनीतिक उथल-पुथल, आदि ऐसे तत्त्व रहे हैं जिन्होंने सदैव भारतीय विदेश नीति को निर्धारित किया। धार्मिक, भाषयाी, साम्प्रदायिक मुद्दे सदैव भारतीय विदेश नीति की व्यावहारिता को प्रभावित करते रहे हैं। इस्लामिक देशों के साथ सम्बंधों की प्रकृति एवं क्षेत्र को भारतीय समाज में विद्यमान एक बढ़े मुसलमान वर्ग का अस्तित्व सदैव प्रभावित करता है।

विचारधारा

गांधीवादी विचारधारा, जिसमें शान्ति, अहिंसा, मानवीय भाईचारा, अन्तर्राष्ट्रवाद तथा दूसरे के मामलों में अहस्तक्षेप पर पूरी तरह बल दिया जाता है, भारत की विदेश नीति को काफी प्रभावित करती है। विदेश नीति का शांतिपूर्ण साधनों तथा सहयोग द्वारा शांति की प्राप्ति का उद्देश्य स्पष्ट रूप से गांधीवाद से प्रभावित है। 'लोकतान्त्रिक पश्चिम' तथा समाजवादी देशों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बनधों विकास करने तथा उन्हें बनाये रखने में, लोोकतन्त्रीय समाजवाद के सिद्वान्त में विश्वास ने भारत की सहायता की है। अभी हाल की यह

प्रवृति, जिसके अन्तर्गत 'समाजवाद' तथा 'उदारवाद' के मध्य संश्लेषण आरम्भ किया गया है, ने भी भारती की उदारवादी लोकतान्त्रिक समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता को बल दिया है। इसने भारतीय विदेश नीति को अन्य समस्त राज्यों से अधिक मित्रतापूर्ण सहयोग के सम्बन्ध स्थापित करने के यत्नों को नया प्रोत्साहन दिया है। परिवर्तित विश्व वातावरण में भारत पश्चिमी देशों तथा (भू.पू.) समाजवादी देशों के साथ सम्बन्धों में एक नया सन्तुलन स्थापित करने के लिए प्रयत्न कर रहा है। लोकतन्त्रीय समाजवादी विकास के उद्देश्यों को लोकतन्त्रीय व्यवस्था अधीन लोकतन्त्रीय ढंग से प्राप्त करने की विचारधारा भारतीय नीतियों का आधार रही है। भारतीय विदेश नीति विकास तथा हितों की सुरक्षा हेतु सभी देशों के साथ समानता, न्याय, परस्पर लाभ तथा विकास के लिये आपसी सहयोग की नीतियों पर चल रही है। 1 जून, 1996 में संयुक्त मोर्चा सरकार के गठन के बाद जो कम से कम साझा प्रोग्राम अपनाया गया, उसमें सभी राजनीतिक दलों की विचारधाराओं और प्रस्तावित नीतियों के प्रभावधीन भारतीय गुटनिरपेक्षता का समर्थन तथा नव-उपनिवेशवाद तथा आर्थिक शोषण के विरोध की सांझी विचारधारा को अपनाया गया। 1996-97 के मध्य इसी सांझे न्यूनतम कार्यक्रम तथा प्रधानमन्त्री श्री गुजराल के कुछ निर्णयों ने यह संकेत दिया कि अब भारतीय विदेश नीति विचारधारा के स्थान पर राष्ट्रीय हितों की प्राथमिकताओं के आधार पर कार्य करने की ओाा चल रही थी। ऐसी ही प्रवृति मार्च 1998 के बाद स्थापित श्री वाजपायी की सरकार की विदेश नीति में दिखाई दे रही है। यह एक सकारात्मक परिवर्तन है।

नेतृत्व

चूंकि किसी राष्ट्र की विदेश नीति मनुष्यों के एक समूह द्वारा बनाई जाती है जिस में नेता, राजनेता तथा कूटनीतिज्ञ हाते है, इसलिए इसमें उनक मूल्यों, प्रतिभाओं, अवगमों, पसन्दों, नापसन्दों, विचारों, विचारों, क्षमताओं, ज्ञान तथा विश्व दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब आरोपित होता है। भारतीय विदेश नीति भी इस नियम का अपवाद नहळ हैं। नेहरू तथा मेनन, डा. राजेन्द्र प्रसाद तथा डॉ. राधा कृष्णन, लाल बहादुर शास्त्री, श्रीमति इन्दिरा गांधी तथा विभिन्न विदेश मन्त्रियों, कूटनीतिज्ञों, तथा अनेक अन्य नेताओं की विशिष्ट मण्डली ने भारत की विदेश नीति के निर्माण तथा कार्यान्वयन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुरसरण नेहरू जी के विश्व दृष्टिकोण तथा विचार द्वारा संचालित हुआ। उनके पश्चात् गुट-निरपेक्षता में कुछ परिवर्तन अन्य नेताओं द्वारा समय-समय पर लाया गया। भारत की गुट-निरपेक्ष नीति की परिधि में श्रीमति इन्दिरा गांधी ने भारत-सोवियत मित्रता गया। भारती की गुट-निरपेक्ष नीति की परिधि में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भारत-सोवियत मित्रता सन्धि की। इस प्रकार नेताओं के व्यक्तितत्व, मूल्य तथा अवगम भारतीय विदेश नीति के निवेश हैं।

प. जवाहर लाल नेहरू भारतीय विदेश नीति के मुख्य निर्मात थे। कुछ विशेष बातों को छोड़ कर, कोई भी व्यक्ति इस निर्धारक को भारत की विदेश नीति का नेहरू कारक का नाम का निर्माण पंडित जवाहर लाल नेहरू ने बड़ा महान् कार्य किया है। उनकी मृत्यु के बाद भी, उनकी विश्व दृष्टि तथा उनके विचार भारत की विदेश नीति के मार्गदर्शक सिद्धान्त रहे हैं। कई प्रकार से पं. नेहरू इसके मूल सिद्धान्तों की रूप-रेखा बनाने में सहायक रहे हैं।

स्वतन्त्रता से पहले भी कांग्रेस के विदेश नीति सम्बन्धी प्रस्ताव श्री नेहरू ही तैयार किया करते थे। वे काग्रेस के विदेश मामलों के विभाग के मुखिया थे। अन्तरिम सरकार के प्रधानमन्त्री होने के नाते उन्होंने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से विदेश नीति के उस स्वरूप तथा आकार का वर्णन किया था जिसका स्वतन्त्रता के बाद भारत को अनुसरण करना था।

स्वतन्त्रता के बाद, नेहरू भारत के प्रधानमन्त्री के साथा–साथ भारत के विदेश मन्त्री भी थे। उनको भारती की विदेश नीति के निर्माण का प्रथम अवसर मिला तथा उन्होंने इसस कार्य को अत्यन्त सराहनीय ढंग से किया। गुट–निरपेक्ष रहने का निर्णय, शांति का अनुसरण करने का निर्णय, पंचशील का निर्माण, पहले एशियाई राष्ट्रों की एकता तथा सहयोग प्राप्त करने की इच्छा तथा फिर उसे अफ्रीकी–एशियाई एकात्मकता की अवधारणा तक ले जाना आदि निर्णय उनके चिन्तन तथा विश्व स्थिति पर उनके विचारों का ही परिणाम थे। उन्होंने साम्यवादी तथा गैर–साम्यवादी दोनों ही प्रकार के देशों के साथ भारत के सम्बन्धों का मार्ग दर्शन किया। उन्होंने नासर तथा टीटी से मिल कर गुटनिरपेक्षता आन्दोलन के प्रार्दुभाव के पीछे काम करने वाली शक्ति थे। न केवल भारत के बल्कि अफ्रीकी–एशियायाई राष्ट्रों के प्रवक्ता के रूप में विश्व भर में नेहरू का विशेष स्थान था। वे विश्व के प्रबुद्ध राजनेता तथा पूर्व तथा पश्चिम के विकसित तथा विकासशील देशों, नये तथा पुराने देशों के बीच एक पुल था।

नेहरू के समय में जो शुरू की गई थीं वे आज भी चल रही हैं। निरन्तरता भारत की विदेश नीति की विशेषता है। ऐस इसलिए नहीं हुआ कि हमारे नेहरू जी से अथवा उनके विचारों से भावनात्मक सम्बन्ध हैं। न ही इसलिए कि 1966 में नेहरू जी की बेटी भारत की प्रधानमन्त्री बनी और न ही इसलिए कि उनका नाती प्रधानमन्त्री बना बल्कि इसलिए कि जो सिद्धान्त नेहरू युग में बने तथा अपनाये गये उन्होंने हमारे उद्देश्य को सफल किया तथा आज भी भारत के राष्ट्रीय हितों का भली–भान्ति पोषण कर रहे हैं। नेहरू के संभाषण भारत की विदश नीति के विद्यार्थियों के लिए प्रमाणिक स्रोतों का कार्य करते हैं।

निस्सन्देह भारत की विदेश नीति का निर्माण केवल नेहरू ने ही नहीं किया। बहुत से अन्य प्रभावशाली भारतीय नेताओं ने भी नीति–निर्माण के क्षेत्र में अपना बहुमूल्य योगदान दिया। लेकिन कोई भी व्यक्ति भारत की विदश नीति निर्माण में श्री नेहरू की केन्द्रीय भूमिका को अनदेखा नहीं कर सकता। नेहरू के बाद नीति निर्माताओं ने नेहरू द्वारा दिखाए गए रास्ते को ही अपना मार्ग बनाया।

परन्तु इस सब का अर्थ यह कदापि नहीं कि भारत की विदेश नीति स्थिर तथा रूढ़िवादी है। यह वातावरण तथा आवश्यकतओं के अनुसार परिवर्तित होती रही है फिर भी मूल रूप से यह नेहरू के युग में स्थाप्ति सिद्धान्तों के विशाल घेरे के अन्दर ही रही है। निश्चय ही भारत की विदेश नीति ने नहरू जी के आदर्शवाद का त्याग कर दिया है।

अन्तराष्ट्रीय वातावरण

द्वितीय विश्वयुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति ढांचे को अत्यधिक प्रभावित किया। पहले वाले शक्तिशाली यूरोपीय देशों की शक्ति के पतन, अमेरिका तथा (भू.पू.) सोवियत संघ के दो महा–शक्तियों के रूप में उदय, शीत युद्ध तथा सन्धियों का प्रादुभाव, परमाणु बमों के निर्माण, संयुक्त राष्ट्र के निर्माण आदि ने संयुक्त रूप से युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का एक नया रूप प्रदान किया। 1947 में भारत का एक प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्र के रूप में उदय होने तथा 1949 में चीन में सफल साम्यवादी क्रान्ति ने एशिया की जागृति के संकेत दिए। इस प्रकार अन्तर्राष्टीय वातावरण में भारत ने अपनी विदेश नीति के निर्माण का कार्य शुरू किया।

महा–शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता तथा भारतीय विदेश नीति

अमेरिका तथा सोवियत संघ के महाशक्तियों के रूप में उभरने तथा अपने शिविर के देशों साथ सुरक्षा सन्धियों द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में द्विध्रुवीयता का प्रादुर्भाव हो गया। इस युग में अमेरिका तथा सोवियत संघ दोनों ने अपने–अपने गुट को सुदृढ़ करने के लिए नए स्वतन्त्र हुए भारत को अपनी तरफ मिलाने के लिए भरसक प्रयत्न शुरू कर दिए। भारत के लिए इस प्रकार का

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण उलझनपूर्ण था तथा भारत के नियन्त्रण से बाहर था। भारत की विदेश नीति का निर्माण इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में किया जाना था। भारत के लिए केवल दो ही विकल्प थे-(क) दोनों में से किसी एक गुट का सदस्य बनकर शीत युद्ध में सहायक बनना, (ख) शक्ति गुटों तथा शक्ति राजनीति से दूर रहना। दूसरा विकल्प भारत के राष्ट्रीय हितों के लिए कहीं अधिक उपयुक्त था।

बाहरी वातावरण तथा भारतीय विदेश नीति

दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों, विशेषतया चीन जैसे पंचशील का अपनाने का निर्णय निर्धारित हुआ। 1949 में साम्यवाद चीन के उदय, 1954 में पाकिस्तान द्वारा अमेरिका की सैनिक सन्धियों में शामिल होने का निर्णय तथा एशिया में महाशक्तियों के बढ़ते हस्तक्षेप के कारण भारत के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह गुट निरपेक्षता का अनुसरण करे तथा इसके साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसे सृदृढ़ करे। 1960 में भारतीय प्रयासों के कारण विश्व में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन आरम्भ हुआ तथा शीघ्र ही यह आन्दोलन काफी विस्तृत रूप ग्रहण कर गया। इसने शीत युद्ध की तीव्रता को कम किया। द्विध्रुवीकरण को शिथिल बना कर बहुकेन्द्रवाद की उत्पति का मार्ग प्रशस्त किया। विश्व में बढ़ रही परमाणु शस्त्र दौड़ तथा शस्त्र दौड़ को कम करने के लिए प्रयास किया तथा विश्व संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यो में भरपूर साझेदारी अपनाई। लेकिन जब विश्व में विद्यमान परमाणु शस्त्र धारक देशों ने परमाणु निशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण करने की अपेक्षा तथा जैसे उपकरणों की सहायता से अपना परमाणु साम्राज्यवाद थोपने का प्रयास किया तो भारत ने इस नीति का दृढ़ विरोध करने का निर्णय लिया भारत ने स्वयं परमाणु शस्त्रों का निर्माण करके अन्य देशों को परमाणु निशस्त्रीकरण को स्वीकार करने के लिये विवश करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार भारतीय विदेश नीति सदैव बाहरी वातावरण के प्रभावधीन भी अपने निर्णय करती रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में आधुनिक समय के परिवर्तन तथा भारतीय विदेश नीति

1987 की आई.एन.एफ. सन्धि के बाद विश्व वातावरण में बहुत महान् तथा तीव्र परिवर्तन हुए। 1987 की सन्धि के बाद अमेरिका तथा (भू.पू.) सोवियत संघ में संबंध मधुर हुए, शीत युद्ध समाप्त हुआ। बर्लिन की दीवार गिरा दी गई, दोनों जर्मनी एक राज्य बन गए। पूर्व येरोप के देशों में लोकतन्त्र तथा उदारवाद की सफल आगमन हुआ। साम्यवाद की लोकप्रियता को भारी धक्का लगा, सोवियत संघ विघटित हो गया, वर्सा समझौता समाप्त हो गया, रूस सोवियत संघ का उत्तराधिकारी बना, स्वतन्त्र राज्यों के राष्ट्रमण्डल की स्थापना हुई, कम्बोडिया, अफगानिस्तान, अंगोला, पश्चिमी एशिया आदि क्षेत्रों में शान्ति स्थापना की ओर महान् प्रगति हुई, स्टार-1, स्टार-2 तथा रासायनिक हथियारों सम्बन्धी सन्धि ने मिलकर निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियन्त्रण का मार्ग प्रशस्त किया, परमाणु हथियारों वाले देशों की संख्या बढ़ी। राज्यों के आर्थिक सम्बन्धों को नया महत्त्व मिला, विश्व शक्ति संरचना एकल-ध्रुवीय हो गई तथा विश्व में अमेरिका का प्रभुत्व बढ़ गया। संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका में वृद्धि हुई परन्तु इस की सुरक्षा परिषद् पर अमेरिकी प्रभुत्व बढ़ गया। रूस, जर्मनी, जापान, यूरोपीय समुदाय के राज्य, चीन तथाफ्रास कुछ विशेष कारणों से अमेरिकी शक्ति को चुनौती देने में असमर्थ रहे, नई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध दक्षिण सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता बढ़ गई, नव-उपनिवेशवाद बना रहा, विकासशील देशों की विकसित देशों पर निर्भरता में वृद्धि हो गई।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था तथा भारतीय विदेश नीति

नए राज्यों की विकसित राष्ट्रों पर निर्भरता तथा विदेश सहायता, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों जैसे नए तथा महत्त्वपूर्ण साधनों द्वारा नव-उपनिवेशवाद के बाद रहने को भारत के नीति निर्माताओं ने खतरनाक तथा हानिकारक समझा। उन्होंने अफ्रीकी-एशियाई एकात्मकता को तथा तीसरे विश्व की एकता को सुदृढ़ बना कर बुराईयों से जूझने को निर्णय किया। उत्तर-दक्षिण के बीच झगड़े

को निपटाने की प्रक्रिया में भारतीय विदेश नीति महत्त्वपूर्ण भूमिका-निभा रही है। यह दक्षिण के अर्थात् तीसरे विश्व के विकासशील राष्ट्रों के अधिकारों की प्रबल समर्थक है। भारत ने नये गैट की सदस्यता प्राप्त की है। यह विश्वीकरण के उद्देश्य का समर्थक है। परन्तु इसके साथ ही भारतीय विदेश नीति नव-उपनिवेशवाद, संरक्षणवाद तथा विकसित राज्यों की धक्केशाही के विरूद्ध अब और भी संघर्षशील बन रही है। भारत एशियन का क्षेत्रीय सांझेदार का सक्रिय सदस्य है तथा विश्व आर्थिक व्यवस्था में सक्रिय भूमिका निभा रहा है। डब्लयू.टी.ओ. की स्थापना के बादभारत अपने तथा अन्य सभी विकासशील देशों के आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिये प्रयत्न कर रहा है। यह विकसित देशों द्वारा के आर्थिक हितों होने के प्रयत्नों के विरूद्ध संघर्ष कर रहा है तथा इसके लिये विकासशील देशों के मध्य अधिक आर्थिक सहयोग की स्थापना के लिये भरसक प्रयत्न कर रहा है। भारत दक्षिण-दक्षिण सहयोग तथा विकास के लिये क्षेत्रीय सहयोग के सिद्धान्तों का दृढ़ समर्थक है।

संयुक्त राष्ट्र संघ एवं भारत

भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का मौलिक सदस्य है तथा उसे इसके, आदर्शो एवं सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास है। भारतीय विदेश नीति के उद्देश्यों में विश्व शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा झगड़ों के निपटारे के लिए शान्तिपूर्ण साधनों में विश्वास, अतिक्रमण एवं युद्ध का खंडन, निशस्त्रीकरण का समर्थन, परमाणु शस्त्रों का विरोध आदि शामिल है। संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रय एजेन्सियों के कार्यो तथा प्रोग्रामों में सक्रिय रूप में भाग लेना सदैव भारतीय विदेश नीति का मुख्य सिद्धान्त रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की विचारधारा इसका बहुमूल्य निवेश है। दिसम्बर 1996 में भारत सयुक्त राष्ट्रकी सुरक्षा परिषद् की अस्थाई सदस्यता प्राप्त करने में असफल रहा क्योंकि जापान चुनाव में जीत प्राप्त कर गया। परन्तु इस असफलता के बाद भारत ने इस परिषद् की स्थाई सदस्यता के लिये प्रयास और भी दृढ़ कर दिये। वर्तमान समय में भारतीय विदेश नीति संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् के लोकतन्त्रीकरण तथा विकेन्द्रीयकरण पर बल दे रही है। भारत संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता का सशक्त दावेदार है।

प्रमुख विश्व समस्याएं तथा भारत

विकासशील राष्ट्रों विशेषयता अफ्रीकी-एशियाई देशों के साथ एकात्मकता, एन.आई.ई.ओ. के लिए समर्थन, परमाणु शस्त्रों का पूर्ण विरोध, निर्गुट रहते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सम्पूर्ण रूप से तथा सक्रियता से भाग लेना, पंचशील का समर्थन, शस्त्र दौड़ विशेषतया परमाणु अस्त्रों की दौड़ का विरोध, पूर्व परमाणु निशस्त्रीकरण का समर्थन, अपने पड़ोसियों विशेषयता चीन तथा पाकिस्तान के साथ मैत्रीपूर्ण तथा सहयोगात्मक सम्बन्धों की स्थापना, पर्यावरण तथा मानव अधिकारों की सुरक्षा के लिये विश्व के अन्य देशों के साथ पूर्ण सहयोग करना आदि भारतीय विदेश नीति का मुख्य विशेषताएं हैं तथा ये सभी विदेश नीति पर अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण का गहरा प्रभाव प्रकट करती हैं। भारत की विदेश नीति अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के प्रति पूर्णतया सचेत है। भारतीय विदेश नीति सदा ही अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं जैसे कि स्थानीय युद्ध, तख्ता पलटना तथा क्षेत्रीय एवं विश्व की शक्ति संरचना में बदलाव से सम्भव विश्व स्तर के परिवर्तनों के प्रति सजग रही है। उत्तर-शीत युद्ध काल में भारत भी नई उभर रही विश्व व्यवस्था में रचनात्मक, सकारात्मक तथा सक्रिय भूमिका के लिये यथासम्भव प्रयत्न कर रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में चलाए गये तथा चलाए जा रहे शांति-सुरक्षा अभियानों में उचित भूमिका निभाना भारतीय विदेश नीति का एक दृढ़ सिद्धान्त रहा है। भारत आरम्भ से ही विश्व स्तर पर एक सक्रिय कर्ता रहा है और आज भी है।

स्वयं अभ्यास प्रश्न

1. भारत और चीन की सीमा का नाम बताओं।
2. यू.एन.ओ. की स्थापना कब हुई।
3. एन.टी.बी.टी. का विस्तारित अर्थ लिखों।

8.3 निष्कर्ष

इस प्रकार यह सब तत्त्व भारत की विदेश नीति के मुख्य निर्धारक हैं। इन सभी तत्त्वों/कारकों ने मिल कर भारत की विदेश नीति की क्रियाशीलता को नया आकार दिया है। इनकी वास्तविक भूमिका का मूल्यांकन इन्हीं तत्त्वों के सामूहिक विश्लेषण से किया जा सकता है। क्योंकि इनमें से कोई भी तत्त्व भारत की विदेश नीति का स्वतन्त्र निर्धारक नही तथा न ही समझा जा सकता है। सदैव आन्तिरिक तथा बाहरी वातावरण एवं परिस्थितियों घेरलू और बाहरी तत्त्वों से निर्धारित होती रही हैं। जहां एक ओर यह उत्तर शीतयुद्ध तथा उत्तर-सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में अपने आप को ढाल रही है। वहां यह भारत के आन्तिरक सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक वातावरण के प्रभावधीन भी अपने आप को ढाल रही हैं। निंरतरता तथा परिवर्तन भारतीय विदेश नीति की प्रमुख विशेषता रही है। राष्ट्रीय हितों के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय हित एवं मुद्दे तथा गतिशीता के निर्धारक रहे है। वर्तमान समय में आर्थिक तत्त्व भारतीय विदेश नीति को अन्य तत्त्वों की अपेक्षा अधिक प्रभावित कर रहे हैं। भारत उत्तर-शीतयुद्ध काल तथा बीसवीं शताब्दी के इन अन्तिम महीनों में उभर रही नई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपनी आवश्यक तथा उचित भूमिका निभाने के लिये प्रयत्न कर रहा है। आजकाल आंतरिक राजनीतिक वातावरण में विद्यमान एक प्रकार की अनिश्चितता की स्थिति भी भारतीय विदेश नीति के कार्य व्यवहार को प्रभावित कर रही है। इस प्रकार आन्तिरिक तथा बाहरी तत्त्व दानों ही भारतीय विदेश नीति के निर्धारक रहे हैं। परन्तु भारतीय विदेश नीति में आरम्भ से लेकर आज तक एक प्रकार की समरूपता बनी हुई है। मई-जून में 1999 में भारत द्वारा जम्मू और कश्मीर की सीमा पर कारगिल क्षेत्र में जो सैनिक कार्यवाही की गई उसका सभी दलों ने समर्थन किया यद्यपि कांग्रेस ने भाजपा सरकार की विदेश नीति को असफल करार दिया।

8.4 शब्दावली

विदेश नीति के निर्धारक तत्व – विदेश नीति के निर्धारक तत्वों से अभिप्राय: उन तत्वों से है जो किसी भी राष्ट्र की विदेश नीति को प्रभावित करते है। इनमें आंतरिक और बाहरी दोनों प्रकार के तत्वों का मिश्रण होता है।

शीत युद्ध – शीत युद्ध 1945 से 1990 के मध्य अमेरिका और सोवियत संघ के सदस्यों के मध्य तनावपूर्ण संबन्धों का युद्ध था। इसे शीत युद्ध इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह वास्तव में कभी नहीं लड़ा गया परन्तु लगातार तनाव की स्थिति बनी रही।

NATO नाटो – यह अमेरिका के अधिन एक सैन्य संगठन था जिसे उत्तर अटलांटिक संधि संगठन के नाम से भी जाना जाता था। यह शीत युद्ध काल की सबसे सशक्त सैन्य व्यवस्था थी।

सैन्य गठबन्धन – सैन्य गठबन्धन राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित विशेषकर शीत युद्ध काल की एक अर्न्तराष्ट्रीय व्यवस्था या समझौते थे जिनके सदस्य राष्ट्र संकट काल में सदस्य राष्ट्रों की सुरक्षा और समर्थन के लिए बना होता है। NATO, SEATO, CENTO, WARSA PACT, 245 इत्यादि शीतयुद्ध काल के महत्वपूर्ण सैन्य गठबन्धन थे।

8.5 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मैकमोहन रेखा
2. 24 Oct- 1945
3. Nuclear Test Ban Treaty

8.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- तपन विसवाल, **अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्ध, हैदराबाद** (ओरियंट ब्लैक स्वॅान, 2016).
- राजीव सीकरी, **भारत की विदेश नीतिः चुनौती और रणनीति,** (नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, 2017).
- बी. सिंह गहलौत, **भारतीय विदेश नीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- बी. सी. नरूला, **अतंर्राष्ट्रीय राजनीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- जे.एन. दीक्षित, **भारत की विदेश नीति और उनके पड़ोसी,** (नई दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, 2010).
- बी. एल. फड़िया, **कुलदीप फड़िया,** (अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2019).
- मुन्द्रिका प्रसाद, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2013).

8.7 परीक्षा हेतु प्रश्न

1. विदेश नीति के आंतरिक तत्वों का वर्णन करों।
2. भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्वों में आर्थिक व भौगोलिक तत्वों का वर्णन करों।
3. भारतीय विदेश नीति किस तरह बाहरी वातावरण से प्रभावित होती है, वर्णन करो।

*****

अध्याय–9
अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गुटरिपेक्षता

संरचना

9.0 भूमिका
9.1 अधिगम उद्देश्य
9.2 गुटनिरपेक्षताः अर्थ एवं परिभाषा
9.3 उद्देश्य
9.4 गुटनिरपेक्षता की नीति के संकट
9.5 निष्कर्ष
9.6 शब्दावली
9.7 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.9 इकाई अंत प्रश्न

9.0 भूमिका

गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की उन अद्‌भुत घटनाओं में से एक है, जो अन्तर्राष्ट्रीय दृश्यपटल पर दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उभरी तथा जो अब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के स्वरूप को आकर देने में महत्त्वपूर्ण शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। निश्चय ही गुटनिरपेक्षता का प्रादुर्भाव हमारे समय की सबसे अधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली घटना है। आज विश्व समुदाय के लगभग 2/3 राज्य इसमें शामिल हैं तथा यह युद्धोत्तर काल के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक अपूर्व तथा प्रभावशाली विकास है। भारत जैसे नये बने राज्यों की विदेश नीतियों के सिद्धान्त के रूप में उभरते हुए, गुटनिरपेक्षता हमारे समय का सबसे अधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली आन्दोलन बन गया है।

गुटनिरपेक्षता क्या नही है: अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के शब्द-कोश में सबसे लोकप्रिय शब्द होने के बावजूद इस शब्द की अलग-अलग व्याख्याएं, विशेषत पश्चिमी विद्वानों द्वारा निरन्तर हो रही हैं। आरम्भ में इसकी व्याख्या तटस्थता या तटस्थतावाद या तटस्थीकरण आदि शब्दों से की जाती रही। जार्ज श्वारज़नबरगर छः शब्दों का उल्लेख करते है: अलगाववाद गैर-वचन-बद्धता, तटस्थता, तटस्थीकरण, एकपक्षतावाद, तथा निर्लिप्तता जिनका अर्थ कुछ सीमाा तक गुटनिरपेक्षता के अर्थ जैसा ही है, लेकिन इसमें कोई भी शब्द गुटनिरपेक्षता की परिभाषा देने के लिये उचित रूप से प्रयोग नही किया जा सकता। अलगाववाद का अर्थ है, अलग रहने की नीति, परन्तु गुटनिरपेक्ष का अर्थ है, केवल सैनिक सन्धियों तथा शीत-युद्ध से दूर रहना, न कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से। इसी तरह अवचनबद्धता का अर्थ है, बहुत सारे सम्बन्धों में दूसरी शक्तियों से अलग रहने की राजनीति, तटस्थता का अर्थ है, दो युद्ध मे संलग्न राज्यों के बीच तटस्थ रहने का निर्णय, तटस्थीकरण तटस्थ रहने वाले राज्यों का राजनीतिक तथा वैधानिक स्तर जैसे स्विट्ज़रलैंड का स्तर होता है, एकपक्षीयवाद गिने-चुने एक पक्षीय जाखिम भरी निर्णय लेने वाली नीति को कहते है तथा निर्लिप्तता का अर्थ है विभिन्न विचारधाराओं तथा शक्तियों के बीच संघर्ष से दूर रहना। ये सारे शब्द गुटनिरपेक्षता के अर्थ के निकट भी नहीं हैं। गुटनिरपेक्षता न तो एक वैधानिक स्तर है तथा न ही एक कूटनीतिक साधन। यह न तो अलगाव का सिद्धान्त है और न ही निष्क्रियता का।

9.1 अधिगम उद्देश्य

इस अध्याय के अन्त में छात्र मुख्य रूप में समझेगे-

1. गुटनिरपेक्षता अर्थ एवं परिभाषा
2. गुटनिरपेक्षता की नीति के संकट

9.2 गुटनिरपेक्षताः अर्थ एवं परिभाषा

गुटनिरपेक्षता क्या है? सकारात्मक रूप से गुटनिरपेक्षता का अर्थ है विदेश-नीति का वह मूल सिद्धान्त जिसक अन्तर्गत कोई भी देश अपने आप को शीतयुद्ध तथा सैन्य सन्धियों से दूर रखते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अपने महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय हतों तथा शान्ति सुरक्षा के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य की मांग, दोनो के आधार पर सक्रिय भाग लेता है। चीन के हमले के समय अमेरिकी मदद पाने के लिए जवाहर लाल नेहरू द्वारा जान एफ कैनेडी को लिखे गए पत्र सार्वजनिक होने के बाद हमारे बौद्धिक वर्ग में नेहरू और उनके बाद के प्रधानमंत्रियों द्वारा अपनाई गई गुट निरपेक्ष नीति के बुनियादी सिद्धातों पर नए सिरे से बहस छिड़ गई। गुटनिरपेक्षता की नीति भारत के सुरक्षा हितों की रक्षा के लिए अपनाई गई थी। इसे नेहरू ने 1946 अर्थात भारत की आजादी से भी पहले अपना लिया था। शब्द गुटनिरपेक्ष का इस्तेमाल नेहरू ने सात सितंबर 1946 को वायसराय की कार्यकारी परिषद के उपाध्यक्ष के रूप में अपने संबोधन में किया था। उन्होंने कहा था कि हम अधिकतम संभव तरीके से शक्ति समूहों की राजनीति से स्वयं को अलग रखेंगे। जो अतीत में विश्वयुद्धों का कारण रही है और जो आगे भी बड़े पैमाने पर तबाही का कारण बन सकती है। नेहरू गुटनिरपेक्षनीति के पक्के समर्थक होने के बावजूद गुटनिरपेक्ष आदोलन के प्रति बहुत अधिक उत्साहित नहीं थे। हालाकि टीटो और नासेर तथा अपने सहयोगी कृष्णा मेनन के दबाव में वह झुक गए। उन्होंने न केवल बेल ग्रेड में गुटनिरपेक्ष सम्मेलन में भाग लिया बल्कि इसे नाभिकीय परीक्षण के खिलाफ अभियान का रूप भी दिया।

नेहरू भले ही गुटनिरपेक्षता की नीति पर अमल कर रहे थे। लेकिन उन्होंने भारत को राष्ट्रमंडल में बनाए रखा। प्रशासनिक सेवाओं के वरिष्ठतम पदों पर ब्रिटिश अधिकारी कायम रखे और रक्षा उपकरणों की ज्यादातर खरीद ब्रिटेन और एक हद तक फ्रास और अमेरिका से भी की। भारत ने उत्तर कोरिया के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र की कार्रवाई के पक्ष में मतदान किया। यहा तक कि संयुक्त राष्ट्र के बल की एंबुलेंस यूनिट में अपना योगदान भी दिया। फिर भी भारत ने उत्तर कोरिया में अभियान चलाने की संयुक्त राष्ट्र की पहल का विरोध किया और अमेरिका को चीन के संभावित हस्तक्षेप के प्रति आगाह किया। इसके अतिरिक्त भारत ने हंगरी के मामले में सोवियत संघ की निंदा से खुद को अलग रखा। संभवत कश्मीर पर सोवियत संघ के समर्थन के प्रति दबे छिपे सहयोग के कारण। भारत ने पश्चिमी दुनिया से सैन्य सहायता स्वीकार नहीं की लेकिन अपनी रक्षा जरूरतें पूरी करने अथवा रक्षा उत्पादन के लिए लाइसेंस प्राप्त करने के लिए उसे ब्रिटेन, फ्रास, अमेरिका और जापान से सहयोग लेने पर ऐतराज नहीं रहा। यह सब गुटनिरपेक्षता के दौर में हुआ।

नेहरू ने चीन के खतरे से निपटने के लिए सोवियत संघ के साथ पारस्परिक हितों की जरूरत महसूस की। इसका ही परिणाम रहा कि उसने ए एन और एम आई- हेलीकॉप्टरों की खरीद की शुरुआत की। इसके बाद मिग समझौते की बात आई। जिनके लिए सोवियत संघ ने चीन के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया था। भारत ने महसूस किया कि आक्रामक चीन से निपटने के लिए सोवियत संघ अमेरिका अथवा पश्चिमी जगत से कहीं अधिक विश्वसनीय सहयोगी है। किन चीन ने नेहरू की इस रणनीति को विफल करते हुए क्यूबाई मिसाइल संकट के समय भारत पर हमला बोल दिया। तब सोवियत संघ पूरी तरह अमेरिका से उलझा हुआ था और वह चीन को रोकने की स्थिति में नहीं था। चीन के हमले के बाद भारत ने सहायता के

तौर पर सैन्य उपकरण स्वीकार करना आरंभ किया। यह सिलसिला 1965 तक चलता रहा। भारत ने सोवियत संघ के साथ रक्षा उपकरणों के लिए दस वर्ष का समझौता भी किया। पश्चिमी देश भारत को उधार पर रक्षा उपकरण देने के लिए बहुत ज्यादा उत्सुक नहीं थे, लेकिन सोवियत संघ से भारत को प्रमुख हथियार मिलते रहे। यह दोनों ही पक्षों ने समझा कि भारत की रक्षा तैयारी चीनी हमले के परिप्रेक्ष्य में है यह गुटनिरपेक्षता की नीति के दायरे में भी है। वह एक ऐसा दौर था जब भारत के पास विदेशी मुद्रा का संकट था और उसे लगा कि सोवियत संघ से मिलने वाले रक्षा उपकरण न केवल सस्ते हैं, बल्कि भारत की तैयारी के लिहाज से सही भी हैं। एक लंबे समय तक सोवियत संघ भारत को रक्षा उपकरण उपलब्ध कराने वाला अकेला देश बना रहा। सत्तर के दशक में भारत ने जगुआर के उत्पादन का लाइसेंस प्राप्त किया। अस्सी के दशक के शुरुआती में भारत ने ब्रिटेन से लड़ाकू विमान खरीदे। फिर फ्रास के मिराज की बारी आई। इसके बाद रीगन प्रशासन के साथ जीई- इंजन की खरीद के लिए समझौता हुआ।

गुट निरपेक्ष रहने की भारत की नीति सिद्धात आधारित थी जिसका अर्थ है कि भारत को किसी गुट का सक्रिय सहयोगी नहीं बनना है। इसका यह अर्थ कतई नहीं रहा कि भारत इस या उस अथवा दोनों गुटों से किसी तरह का साथ हासिल नहीं करेगा। 21वीं सदी में चीन और अमेरिका के बीच कोई शीतयुद्ध नहीं है। इसलिए इस दौर में चीन और अमेरिका के बीच गुटनिरपेक्षता की बातें करने का कोई तुक नहीं। एक उभरती शक्ति के रूप में चीन का दबाव भारत पाकिस्तान के माध्यम से महसूस कर रहा है। गुटनिरपेक्ष नीति का निर्धारण तब किया गया था जब दुनिया की बड़ी शक्तियों के बीच टकराव की आशका थी लेकिन आज के दौर में ऐसी कोई आशका नहीं। इसके विपरीत अंतरराष्ट्रीय सुरक्षा के समक्ष खतरे मजहबी कट्टरता और आतंकवाद के कारण उत्पन्न हो रहे हैं।

9.3 गुटनिरपेक्षता के उद्देश्य

गुटनिरपेक्षता अब पूर्णतया विकसित तथा विस्तृत अवधारणा बन चुकी है इसके निम्न उद्देश्य है:

शीत युद्ध का विरोध

गुटनिरपेक्ष का प्रादुर्भाव उस समय हुआ, जब अमरीका तथा (भू.पू.) सोवियत संघ के बीच युद्ध कालीन सहयोग को शीत-युद्ध के पक्ष में भुलाया जा चुका था। शीत-युद्ध में प्रत्येक की यह कोशिश थी कि वह दूसरे को अलग कर दे। युद्ध ने सारे विश्व शांति, एक तनावपूर्ण शांति थी तथा सोवियत संघ तथा अमरीका के बीच शीत-युद्ध ने सारे विश्व को फिर से युद्ध के कगार पर ला खड़ा किया था। दोनों में से प्रत्येक ने दूसरे राज्यों, विशेषतया नये बने भारत जैसे सम्प्रभू राष्ट्रों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। भारत जैसे कई और राज्य शीत-युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए पूर्णतया हानिकारक मानते थे तथा इसके साथ राष्ट्रों की शांति तथा नीतयों के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में अपनाया। गुटनिरपेक्षता ने शीत-युद्ध का विरोध किया, इसने इसे असामान्य तथा भयानक नीति माना तथा इसके द्वारा पैदा किए गए गलत चलनों तथा तनावों से दूर रहने का प्रयत्न किया।

सैन्य तथा राजनीतिक गठबन्धनों का विरोध

नेहरू के शब्दों में, जब हम कहते हैं कि हमारी नीति गुटनिरपेक्षता की है, तो स्पष्ट रूप से हमारा अभिप्राय सैनिक गुट के साथ गुटनिरपेक्षता से होता है। गुटनिरपेक्षता सभी प्रकार की सैनिक, राजनीतिक, सुरक्षा-सन्धियों तथा गठबन्धनों, जो सदैव तनावों को पैदा करते हैं, का विरोध करती रही है। यह शीत-युद्ध के उपकरण के यप में नाटो, सीटो तथावार्सा समझौते जैसी सुरक्षात्मक सन्धियों का विरोध करती है। ये सन्धियों दबाव का कारण बनती हैं तथा अपनी-अपनी सन्धियों के अन्तर्गत आने वाले सदस्यों पर प्रभुत्व जमाने तथा नियन्त्रण स्थापित करने का साधन बनती है। गुटनिरपेक्षता ने इन सन्धियों को शीत-युद्ध का संचालन करने,

शक्ति राजनीति तथा दूसरे राष्ट्रों पर नियन्त्रण जारी करने वाली एजेन्सियां माना और ये सन्धियां किसी राष्ट्र के स्वतन्त्र कार्य करने के अधिकार तथा उन्हें पूर्वाग्रहों तथा अपत्मगत मूल्यों के अनुसार कार्य करने पर अंकुश लगाने वाली एजेन्सियां मानी गई। गुटनिरपेक्षता ने सभी प्रकार की सैन्य तथ राजनीतिक सुरक्षा सम्बन्धी समझौतों से दूर रहना माना क्योंकि से गठबन्धन शीत–युद्ध का कारण बनते थे। गुटनिरपेक्षता के अनुसार ये समझौते अथवा गठबन्धन हो जाती है, इसलिए इससे भय, शंका, घृणा तथा अविश्वास पैदा हो जाता है।

शक्ति राजनीति में निर्लिप्तता

गुटनिरपेक्षता शक्ति–राजनीति विरोधी अवधारणा है। यह सघर्ष को सबसे अधिक शक्तिशाली तत्त्व नहळ्र मानतीं। यह स्वीकार करती है कि प्रत्येक राष्ट्र को शक्तिशाली हाने का अधिकार है परन्तु केवल अपने राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए ही। यह शक्ति की अवधारणा का स्थानीय, क्षेत्रीय, महाद्वीपीय तथा विश्व–व्यापी प्रभुत्व की स्थापना के लिए संघर्ष का खण्डन करती है। यह शक्ति प्राप्त करने के लिए य स्तर–नियर्माण के लिए या दूसरों पर शासन करने के लिए, शक्ति प्रयोग का खण्डन करती है यह उस शक्ति संघर्ष का विरोध करती है, जिसका उद्देश्य दूसरों पर अपनी इच्छाएं या उद्देश्य लादना हेता हैं यह शक्ति राजनीति की अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा की उल्लंघना की ओर एक कदम मानती है।

शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व तथा अहस्तक्षेप

शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व तथा अहस्तक्षेप पंचशील के दो मुख्य सिद्धान्त हैं। गुटनिरपेक्षता के भी यही सिद्धान्त हैं। गुटनिरपेक्षता की नीति यह विश्वास करती है। कि शीत–युद्ध तथा युद्ध की तैयारी द्वारा शान्ति कायम करने के प्रयत्न अनुचित तथा हानिकारक हैं तथ इन्हें शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व तथा अस्तक्षेप के सिंद्धान्त में बदल देना चाहिए। गुटनिरपेक्षत यह स्वीकार करती है कि अलग–अलग राजीनीतिक व्यवस्थओं वाले देश शांतिपूर्वक इकटठे रह सकते है, सहयोग कर सकते है कि तथा परस्पर लाभों के लिए विश्व शांति तथा समृद्धि के लिए कर सकते है, सहयोग कर सकते है तथा परस्पर लाभों के लिए विश्व शांति तथ उसक विकास करना सम्भव है। इस प्रकार गुटनिरपेक्षता सभी के साथ बिना किसी भेदभाव के मित्रता तथा सहयोग का सिद्धान्त है।

स्वतन्त्र विदेश नीति का समर्थन

गुटनिपेक्षता में विदेश नीति के निर्माण तथा इसके लागू करने में स्वतन्त्रता को बनाए रखने का सिद्धान्त शामिल होता है। वास्तव में, गुटनिरपेक्षता का जन्म बड़ी सीमा तक नये राज्यों की माहशक्तियों तथा विकसित देशों के सम्भावित दबाव से अपनी विदेश नीतियों को स्वतन्त्र रखने की इच्छा के कारण हुआ। यह अनुभव किया गया कि किसी भी एक गुट के साथ गुट–बन्दी कार्य की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा देता है। इससे गुट का अनुयायी बनना पड़ता है तथा निर्णय लेना भी पक्षतापूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त गुटबन्दी के कारण विदेश नीतियां राष्ट्रीय हितों पर तथा विश्व स्थिति पर उनके विचारों पर आधारित नही होती। इसके विपरीत गुटनिरपेक्षता स्वतन्त्रता तथा कार्य की स्वतन्त्रता का साधन हो सकती है। नेहरू के शब्दों में, अपने–आप में नीति, केवल हमारे श्रेष्ठ निश्चयों के अनुसार कार्य करने की तथा हमारे जो मुख्य उद्देश्य तथ आर्दश हैं उन्हें आगे बढ़ाने की नीति हो सकती है। गुटनिरपेक्षता का अर्थ इसलिए स्वतन्त्र विदेश नीति है। नेहरू ने गुटनिरपेक्षता के इस पहलू को हमेशा महत्त्व दिया। भारत किसी भी देश या विदेश नीति है। नेहरू ने गुटनिरपेक्षता के इस पहलू को हमेशा महत्त्व दिया। भारत किसी भी देश या देशों के समूह पर आश्रित नही हो सकता। उसकी स्वतन्त्रता तथा विकास से एशिया में भारी अन्तर आएगा तथा इससे सारे विश्व को फर्क पड़ेगा। विदेशी सम्बन्धों में कार्य की स्वतन्त्रता को बनाए रखने का यह श्रेष्ठ साधन है। इसने गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों को अपनी भूमिका निभाने में राष्ट्रीय हितों के उद्देश्यों को प्राप्त करने में तथा उनके विश्व के बारे में स्वतन्त्र

विचारों पर आधारित विदेश–नीति निर्माण करने तथा लागू करने में सहायता दी है। कार्य करने की इस स्वतन्त्रता से गुटनिरपेक्ष राष्ट्र इस योग्य हो जाते हैं कि प्रत्येक करने में सहायता दी है। कार्य करने की इस स्वतन्त्रता से गुटनिरपेक्ष राष्ट्र इस योग्य हो जाती हैं कि प्रत्येक मामले को उसके गुणों के आधार पर तथा बिना पक्षपात के आंका जा सके। शीत युद्ध की समाप्ति के पश्चात् तथा सावियत संघ एवं साम्यवादी गुट के विघटन के बाद गुटनिरपेक्षता राज्य अब इस नीति को स्वतन्त्र विदेश नीति के सिद्धान्त के रूप में एक उचित तथा आवश्यक नीति सिद्धान्त मानते है।

अलगाववाद की नहीं, बल्कि क्रियाशीलता की नीति

कभी–कभी गुटनिरपेक्षता को अलगाववाद समझा लिया जाता या फिर इसक अक्रियाशीलता की नीति को घोषित कर दिया जाता है। गुटनिरपेक्षता, अलगावाद अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से दूर रहने की नीति का खंडन करती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में पूर्णयता भाग लेने के अधिकार तथा उत्तरदायित्व को स्वीकार करती है। यह मात्र असहाय दर्शक तमाशबीन बने रहने की नीति का खण्डन करती है। इसका अर्थ विश्व राजनीति में पूर्णतया बहादुरी से भाग लेना अन्तर्राष्ट्रीय मामलों मामलों व समस्यओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचार प्रकट करना एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा तथा विकास के पूर्ण सहयोग देना है। गुटनिरपेक्ष राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रक्रिया में पूर्णतया तथा सक्रियता से जुटे हुए हैं। वे हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों तथा समस्याओं पर अपने विचार प्रकट करते हैं तथा निर्णय रहते हैं। वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को निभाने में कभी पीछे नहीं रहे।

गुट–निरपेक्षता न तो कूटनीतिक साधन है न ही वैधानिक स्तर

गुटनिरपेक्षता उस कूटनीतिक तटस्थता से बहुत भिन्न है जो कि कोई राष्ट्र संकट के समय प्रयुक्त कर सकता है। कुटनीतिक तटस्थता से बहुत भिन्न है जो कि कोई भी राष्ट्र संकट के समय प्रयुक्त कर सकते है। कूटनीतिक तटस्थता का अर्थ संकट की वास्तविकताओं का पता होने के बावजूद अक्रियाशीलता की नीति अर्थात् यह यह पता होता है कि क्या ठीक है तथा क्या गलत फिर भी कोई निर्णय या कार्यवाही नहीं की जाती। इसके विपरीत, जैसे जार्ज लिस्का कहते हैं, गुटनिरपेक्षता का अर्थ है उचित तथा अनुचित में भेद करना तथा उचित का समर्थन करना। यह युद्धकालीन तटस्थता भी नहीं जिसमें एक राष्ट्र तटस्थता का स्तर अपना लेता है तथा युद्ध से दूर रहता है। गुटनिरपेक्षता का सिद्धान्त शीत–युद्ध तथा सैनिक गठबन्धनों से दूर रहना है। इसका अर्थ है कि दूर खड़े रहो या जांचने से इन्कार करो। इसका अर्थ अनिर्णय या निर्जीवता का स्वागत भी नहीं। यह शीत–युद्ध से लाभ उठाने वाली नकारात्मक और अवसरवादी नीति नहीं है। यह कार्य करने की सकारात्मक तथा गतिशील नीति है। यह स्विट्ज़रलैंड की तरह स्थायी तटस्थता वाला वैध स्तर भी नहीं है। यह वह सिद्धान्त या वह नीति है, जो एक सरकार अपनाती है तथा जो उसके विदेशों के साथ सम्बन्धों का नयमन करती है। इसलिये सरकार में हुये प्रत्येक परिवर्तन के बाद गुटनिरपेक्षता में विश्वास का पुनः स्पष्ट करना पड़ता है।

गुटनिरपेक्षता, गुटनिरपेक्ष देशों की गुटबन्दी नहीं है

गुटनिरपेक्षता का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि यह न केवल दोनों शक्ति–गुटों के विरूद्ध है बल्कि तीसरे गुट अर्थात् गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के गुट के निर्माण के भी विरूद्ध है। यह नीति एक तीसरी शक्ति या तीसरी गुट के निर्माण बनाने की नीति नहीं है। भारत की गुटनिरपेक्षता के पीछे मुनरो सिद्धान्त का उद्देश्य शांति का एक क्षेत्र बनाना है– एक ऐसा क्षेत्र जिसमें युद्ध, शीत–युद्ध तथा गठबन्धनों का खण्डन किया जाता है, शान्ति का समर्थन सकारात्मक ढंग से किया जाता है तथा सहयोग में विश्वास किया जाता है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने हमेंशा सफलपूर्वक ढंग से किया जाता है तथा सहयोग में विश्वास किया जाता है। गुटनिरपेक्ष ने राष्ट्रों

में हमेशा सफलतापूर्व, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों है तथा सहयोग में विश्वास किया जाता है। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने हमेशा सफलतापूर्वक, निटनिरपेक्ष राष्ट्रों के समूह को एक गुट में बदलने का विरोध किया है। गुटरिपेक्षता एक आन्दोलन है तथा इसके पीछे कोई औपचारिक संस्था का संगठन ढांचा या संविधान नहीं है।

गुटनिरपेक्षता, शान्तिपूर्ण, सह–अस्तित्व तथा आपसी विकास के लिये सहयोग की नीति है

गुटनिरपेक्षता का अर्थ है शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व द्वारा राष्ट्रों में शान्ति तथा सहयोग लाना। यह शीत युद्ध तथा गठबन्धनों का इसलिए खंडन करती है, क्योंकि ये शान्ति के नहीं, युद्ध के साधन हैं। इसका अर्थ है शांति की नीति। यह ठहरी हुई धीमी आवाज़ में बात करने की, न कि चिल्लाने की नीति है। यह अपनी शक्तिशाली भावनाओं की शक्ति में न कि गुस्से में बदले की नीति है। यह इस आधार–वाक्य पर आधारित है कि युद्ध अनिवार्य नहीं है, इसे टाला जा सकता है। शीत युद्ध, सैनिक संधिया तथा शक्ति आधारित राजनीति, विशेषता दोनों विरोधी गुटों के बीच युद्ध की अनिवार्यता पर आधारित हैं। गुटनिरपेक्षता युद्ध का तथा इसलिए सैनिक तथा शक्ति आधारित राजनीति का खंडन करती हैं। गुटरिपेक्षता युद्ध का तथा इसलिए सैनिक संधियों तथा शक्ति आधारित राजनीति का खंडन करती हे। यह शान्तिपूर्ण साधनों से शान्ति का समर्थन करती है। यह सभी झगड़ों के शांतिपूर्ण निपटारे में विश्वास करती है तथा राष्ट्रों के बीच विरोधों को समाप्त करने के लिए शान्तिपूर्ण तालमेल को श्रेष्ठ साधन मानती है है। एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में गुटनिरपेक्षता के विकास का आधार ऐसा ही तर्क है।

इस प्रकार उक्त सभी तत्त्व गुटनिरपेक्षता के मूलभूत तत्त्व हैं। विदेश नीति के एक सिद्धान्त के रूप में, इसका अर्थ, किसी भी शक्ति–गुट के साथ वचनबद्धता से स्वतन्त्रता तथा बाहरी मामलों में कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता यह निष्क्रियता का नमारात्मक सिद्धान्त या तटस्था या अलगाववाद नहीं है। इसके विपरीत यह क्रियाशीलता का सिद्धान्त है। यह एक गतिशील अवधारणा है तथा विदेश नीति की स्वतन्त्रता का मूलभूत तथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। 1961 में नेहरू, नासितर तथा टीटो ने गुटनिरपेक्षता की पांच अनिवार्य विशेषताएं या परीक्षण बताए थे, ये है:

1. गुटनिरपेक्षता तथा शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व पर आधारित स्वतन्त्र विदेश नीति।
2. नव–उपनिवेशवाद का विराध उदारवादी आन्दोलन का समर्थन।
3. किसी भी सैनिक संधि/गुट का सदस्य न होना।
4. किसी भी शक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक संधि की अनुपरिस्थति।
5. राज्य की भूमि पर किसी भी विदेशी सैनिक अड्डे की अनुपस्थित।

   प्रत्येक राष्ट्र जो गुटनिरपेक्ष राष्ट्र के रूप में स्वीकृति होना चाहता है, उसे इन पांचों शर्ता को पूरा करना होता है।

9.4 गुटनिरपेक्षता की नीति के संकट

जब से गुटनरपेक्षता की उत्पति हुई, तभी से इसकी कड़ी आलोचना हो रही है। आलोचक इसे आर्दशवाद पर आधारित नीति मानकर इसकी आलोचना करते है तथा नीति के सिद्धान्त के रूप में इसकी प्रचलन–योग्यता पर सन्देह करते हैं। बहुत से आलोचक ता इसे निष्क्रियता तथा अकर्मण्यता की नीति कहकर इसका खण्डन करते हैं तथा नए बने देशों पर यह आरोप लगाते हैं कि गुटनिरपेक्षता के नाम पर वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से दूर रहना चाहते हैं। इसके अतिरिक्त जहां बहुत से पश्चिमी आलोचक अब भी अनैच्छिक तटस्थता की नीति कहकर इसका वर्णन करते है, वहां दूसरे अलोचक इसक दोहरी गुटबन्दी की नीति कहकर इसकी आलोचना करते रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के परिवर्तन के लगभग पांच दशकों बाद भी

आलोचक आज भी गुटनिरपेक्षता में दोष ढूंढते रहते है। वे भारत जैसे निर्गुट देशों की असफलता उदाहारण देते हैं कि ऐसे राष्ट्र दूसरे देशों के साथ-साथ मैत्रीपूर्ण तथा सहयोग पूर्ण सम्बन्ध कायम करने तथा अपने राष्ट्रीय हितों के कुछ उद्देश्य को पूरा करने में सफल नही हुए हैं तथा इसलिए वे गुटनिरपेक्षता को जारी रखने का विरोध करतें हैं। बहुत से विचार अब शीत-युद्ध की समाप्ति तथा साम्यवादी गुट के विघटन के बाद गुटनिरपेक्षता को एक नकारा तथा कमज़ोर नीति भी कहते है।

गुटनिरपेक्षता की नीति के संकट

गुटनिरपेक्षता एक अवास्तविक तथा आदर्श नीति है

गुटनिरपेक्षता के आलोचकों, विशेषतया पश्चिमी तथा अमरीकी आलोचको ने गुटरिपेक्षता का आदर्शात्मक तथा स्वप्नदर्शी सिद्धान्त माना है और इसका खंडन किया है क्योंकि इसे परिचालित नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह मत दिया कि शीत युद्ध से दूर रहना तथा उच्च शक्तियों के बराबर की दूरी बनाये रखने की बात तो की जा सकती है और सैन्द्धान्तिक रूप में उचित भी हो सकती है परन्तु पभावशाली ढंग से व्यावहारिक नहीं हो सकती। आलोचक यह तर्क देते रहे हैं कि अनादिकाल से राजनीतिक गुटबन्दी अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का सिद्धान्त रही है तथा यह युद्धोत्तर काल के बाद भी एक वैध सिद्धान्त है। कोई भी राष्ट्र, विशेषतया निर्घन और अविकसित राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से पर्याप्त तथा वास्तविक सहायता लिए बिना विकास नहीं कर सकता और इसके निए किसी एक देश अथवा गुट के साथ गुटबन्दी ही उचित नीति हैं गुटनिरपेक्षता सभी के साथ मैत्री तथा शान्ति की नीति के रूप में सैन्द्धान्तिक रूप में तो अच्छी लगती है परन्तु इसका वास्तविक परिचालन कठिन तथाा हानिकारक है। गुटनिरपेक्षता के इर्द-गिर्द जो आर्दशवाद है, जैसा कि इसके उद्देश्यों में प्रतिपादित किया गया है, अर्थात् सभी के साथ समरूप मित्रता, इसे अवास्तविक तथा स्वप्नमयी नीति बनाती है। इस तरह गुटनिरपेक्षता एक आदर्शवादी सिद्धान्त है, जिसे सैद्धान्तिक रूप में तो माना जा सकता है परन्तु व्यावहारिक रूप से यह प्रभावशाली नहीं है।

गुटनिरपेक्षता मित्रविहीनता का कारण बनती है

आलोचका यह मानते है कि विदेशी सम्बन्धों में गुटनिरपेक्षता के कारण वफादार तथा सच्चे मित्र कम मिल पाते हैं। वे भारत का उदाहरण दते हैं। अमरीका की विदेश नीति को शीत-युद्ध तथा संधियों की नीति मान कर भारत द्वारा की गई कड़ी आलोचन के कारण तथा कोरिया तथा वियतनाम समस्या में इसके निर्णयों के कारण इसे अपरीका की वास्तविक तथा शक्तिशाली मित्रता प्राप्त नहीं हो सकी। इसी तरह भारत का साम्यवाद के प्रति भय तथा इस द्वारा भूतपूर्व सोवियत संघ की कुछ नीतियों की आलोचना से सोवियत संघ के साथ भी गहरी मित्रता के रास्ते में रूकावटें खड़ी हो गई थी। इसलिए आलोचकों ने यह माना कि अपनी गुटनिरपेक्षता के कारण भारत दोनों उच्च शक्तियों की मित्रता प्राप्त करने में असफल रहा। 1962 में चीन के आक्रमण के समय यह असफलता बड़ी उत्तेजनापूर्ण थी। इस संकटकालीन परिस्थित इसे बहुत सीमित सहायता ही दे पाये। यह सहायता भी अमरीकी राष्ट्रपति कैनडी तथा ब्रिटिश के प्रधानमन्त्री मैक-मिलन के व्यक्तिगत विचारों के कारण अधिक थी तथा भारत के साथ अमरीका तथा ब्रिटेन की मित्रता के कारण कम थी। यहां तक बंगलादेश के संकट के समय भी भारत को सोवियत संघ के साथ मित्रता कम थी। यहां तक बंगलादेश के संकट के समय भी भारत तथा निश्चित समर्थन प्राप्त कर सके। अफगानिस्तन संकट तथा कम्बोडिया संकट के दौरान भी भारत तथा निश्चित समर्थन प्राप्त कर सके। अफगानिस्तान गुटनिरपेक्षता के स्थान पर गुटबन्दी के पक्ष में मत देते हैं। उनका विचार रहा है कि कुछ राष्ट्रों के साथ वास्तविक मित्रता न होने से अच्छा हैं।

गुटनिरपेक्षता, अकर्मण्यता, तुष्टिकरण और दुर्बलता का सिद्धान्त है

गुटनिरपेक्षता के आलोचक इस शीत युद्ध में तटस्थता के नाम पर निस्सहायता तथा अकर्मण्यता का सिद्धान्त मानकर इसकी आलोचना करते हैं। गुटनिरपेक्षता के कारण नए राज्य दृढ़ नीति अपनाने से बचते फिरते हैं। वे मध्यमार्गी निर्णय लेकर साफ बच निकालते है। इसी करण भारत जैसे देश अफगानिस्तान संकट में कोई ठोस कदम उठाने से बचते रहे। दूसरे शब्दों में, आलोचको का विचार है कि गुटनिरपेक्षता अकर्मण्यता तथा निष्क्रियता का सिद्धान्त है।

गुटनिरपेक्षता वास्तव में दोहरी गुटबन्दी है

गुटनिरपेक्षता के बहुत से आलोचक गुटनिरपेक्षता की नीति को दोहरी गुटबन्दी की नीति कह कर इसकी आलोचना करते हैं। ये यहां तक कह देते है कि इसके द्वारा नए राष्ट्र पश्चिमी तथा साम्यवादी देशों से सहायता लेने के लिए दोहरे मापदण्ड अपनाने के प्रयत्न करते रहे हैं। भारत का उदाहरण देते हुए व सहायता लेने कि भारत, विशेषतया 1971 के बाद से सोवियत संघ के प्रति एक विशेष प्रकार के झुकाव को प्रकट कर रहा था और इसके साथ ही यह अमरीकी सहायता प्राप्त करने का भी प्रयत्न कर रहा था। वे तो यहां कहते हैं कि इस नीति में राजनीतिक नैतिकता की कमी है तथा यह कि तटस्थता का दृष्टिकोण किसी राजनीतिक नैतिकता पर आधारित नहीं हैं। परन्तु व्यक्तिगत शिकायतों तथा राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित है।

गुटनिरक्षता अब संगत सिद्धान्त नहीं लगता

गुटनिरपेक्षता के विरूद्ध एक अन्य तर्क यह है कि चाहे नये राज्यों द्वारा दोनों महाशक्तियों के बीच शीत-युद्ध तथा शाक्ति-आधरित राजनीति के युग में इस सिद्धान्त को अपनाना उचित था, परन्तु अब परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में गुटनिरपेक्षता की नीति को बनाए रखना उनके लिए उपयुक्त नहीं है। शीत-युद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत संघ के विघटन तथा साम्यवादी गुट के अन्त के कारण जिन परिस्थितियों ने गुटनिरपेक्षता को जन्म दिया था, वे अब समाप्त हो गई हैं। इस तरह गुटनिरपेक्षता के बने रहने की अब कोई उपयुक्तता नहीं है क्योंकि यह अब लाभदायक तथा संगत सिद्धान्त नहीं रहा है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में अब गुटनिरपेक्षता की मांग नहीं हैं।

स्वयं अभ्यास प्रश्न

1. NAM की स्थापना कब हुई।
2. NIEO का क्या अर्थ है।
3. NAM के संस्थापक सदस्यों के नाम बताओं
4. कोरिया संकट कब हुआ।

9.5 निष्कर्ष

इन सब आधारों पर आलोचक गुटनिरपेक्षता का खंडन करते हैं। उनके अनुसार यह नीति वर्तमान समय में प्रासांगिक नही है और यह दोहरी नीति के कारण आलोचकों की आलोचना का कारण रही है।

9.6 शब्दावली

गुटनिरपेक्षता – गुटनिरपेक्षता या गुटनिरपेक्ष आन्दोलन शीतयुद्ध काल के दौरान उभरी एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है जो शीत युद्ध की शक्ति राजनीति का विरोध और उससे अलगाव की वकालत करती है और अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्धों में स्वतंत्र विदेश नीति का समर्थन करती है।

कूटनीति – कुटनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के संचालन की एक महत्वपूर्ण कला है। यह पेशेवर राजनायिकों के आपसी सम्बन्धों की एक श्रृंखला है जो संवाद, वातचीत, मध्यस्तता और अहिंसक साधनों के माध्यम से तनाव और निर्णयों को प्रभावित करती है।

9.7 स्वयं अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1961
2. New International Economic Order नई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था।
3. नेहरू, नासीर, टीटो
4. 1950 से 1953

9.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- तपन विसवाल, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, हैदराबाद** (ओरियंट ब्लैक स्वान, 2016).
- राजीव सीकरी, **भारत की विदेश नीतिः चुनौती और रणनीति,** (नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स, 2017).
- बी. सिंह गहलौत, **भारतीय विदेश नीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- बी. सी. नरूला, **अतंर्राष्ट्रीय राजनीति,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2017).
- जे.एन. दीक्षित, **भारत की विदेश नीति और उनके पड़ोसी,** (नई दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाऊस, 2010).
- बी. एल. फड़िया, **कुलदीप फड़िया,** अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, (आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, 2019).
- मुन्द्रिका प्रसाद, **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध,** (नई दिल्ली, अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, 2013).

9.9 परीक्षा हेतु प्रश्न

1. भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति का वर्णन करो।
2. गुटनिरपेक्षता से क्या अभिप्राय है। इसका अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट करों।
3. भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति के उद्देश्यों का वर्णन करों।
4. भारतीय गुटनिरपेक्षता की नीति के संकटों का वर्णन करो।

*****

Assignments
B.A. Pols 202
अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचय

कोई पांच प्रश्न करें।

1. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को परिभाषित करते हुए इसकी प्रकृति एवं विषय क्षेत्र का वर्णन करो।
2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त का वर्णन करो।
3. शीत युद्ध का क्या अर्थ है? इसकी विभिन्न घटनाओं का वर्णन कीजिए।
4. उभरती शक्ति के रूप में चीन के उदय का विस्तारपूर्वक वर्णन करो।
5. विदेश नीति से क्या अभिप्राय है। भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्वों का वर्णन करों।
6. गुटनिरपेक्षता का वर्णन करते हुए शीतयुद्धोत्तर काल में इसकी प्रासंगिता का वर्णन करों।
7. उभरते सत्ता केन्द्रों से क्या अभिप्राय है। एकल धुविय व्यवस्था में इनकी भूमिका का वर्णन करों।

*****

स्नातक द्वितीय वर्ष
राजनीति शास्त्र

कोर्स कोड : POLS-202

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का परिचय

यूनिट : 1 से 4

लेखक : डॉ. योगराज
डॉ. जोगिन्द्र सकलानी

अन्तर्राष्ट्रीय दूरवर्ती शिक्षा एवं मुक्त-अध्ययन केन्द्र
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, ज्ञान पथ
समरहिल शिमला -171005

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम भाग		
अध्याय–1	अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का अर्थ, प्रकृति एवं क्षेत्र	3
अध्याय–2	मॉर्गेन्थो का यथार्थवादी दृष्टिकोण	19
अध्याय–3	निर्भरता एवं विश्व व्यवस्था सिद्धांत	32
भाग–2		
अध्याय–4	शीत युद्व : अर्थ, प्रकृति और कारण	45
अध्याय–5	नया शीत युद्व : उदय और अंत	66
इकाई–3		
अध्याय–6	शीतयुद्धोतर काल और शक्ति के उभरते केन्द्र (Post Cold war Era and Emerging Centres of Power-European Union, China, Russia & Japan)	79
इकाई–4		
अध्याय–7	भारतीय विदेश नीति	91
अध्याय–8	भारतीय विदेश नीति के निर्धारक तत्त्व	99
अध्याय–9	अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गुटरिपेक्षता	114